गोपालक श्रीकृष्ण

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवतदर्शन—

भागवती-कथा

(चौवीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती-कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

—:※:-

तृतीय संस्करण
१००० प्रति] ज्येष्ठ—२०२२ विक्र० [मू० १-२५ पैसे
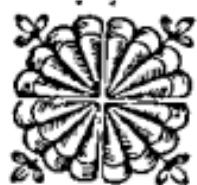
प्रेस की वर्तमान स्थिति।

आज प्रेस को आये १६ वर्ष हो गये। इस अवधि में या तो मुझे इस प्रकाशन के जंजाल से विराग हो जाना चाहिये था, या १६ वर्ष की अवधि में प्रेस उन्नत होकर उत्तर प्रदेश का एक बड़ा नामी प्रेस हो जाना चाहिये था, क्योंकि उन्नति की सभी सुविधायें यहाँ हैं। विस्तृत भवन है विद्युत् उत्पन्न करने तथा जल निकालने की जल (डाइनुमा तथा ट्यूबैल) आदि है, मोटर है। सोलह पेजी एक बड़ी (सिलेंडर) मशीन है, मेरी लिखी लगभग १०० पुस्तकें हैं कोई करने वाला होता तो इतने से लाखों करोड़ों का प्रकाशन बढ़ा सकता था। देश विदेशों में भागवती कथा का सर्वत्र प्रचार हो जाता, अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद छप जाते अनेक संकीर्तन भवन बन जाते, किन्तु दोनों ही बातें न हो सकीं। मैं अभी तक इस प्रकाशन के पचड़े से इच्छा से अनिच्छा से चिपका हुआ हूँ, न तो इस व्यापार से विराग ही हुआ, न प्रेस ही ठीक चल सका। जब से प्रेस आया है, बंद पड़ा है। मशीनों को जंग लग गई लकड़ियाँ सड़ गईं। प्रेस एक दिन भी चला नहीं। न इधर के रहे न उधर के हुए। न तो त्यागी ही बने न पूरे व्यापारी ही बन सके।

त्याग वैराग्य तो अनेक जन्मों के सुकृतों से होता है, मेरे वैसे सुकृत नहीं। इस व्यापार में मन नहीं लगता। इच्छा होती है किसी से कुछ संबन्ध न रखकर भगवत् चिंतन में ही लगा रहूँ। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। पद, प्रतिष्ठा प्रशंसा मान सम्मान की वासनायें इतनी प्रबल हैं, कि इस लोक संग्रह के व्यापार से हट नहीं सकता। दिन दिन अधिकाधिक फँसता ही जाता हूँ, भगवान् ही जब कृपा करें वे ही इन वासनाओं को निकाल कर अपनी भक्ति का स्रोत खोल दें, वे ही हृदय में प्रेम उड़ले दें तो इस झंझट से छूट कर निरंतर भगवत् भक्ति में तल्लीन हो सकता हूँ।

प्रेस की उन्नति दो कारणों से हो सकती है। या तो प्रचुर धन हो अच्छे वेतन पर सुयोग्य आदमी रखकर कार्य बढ़ाया जाय। या कोई कार्य कुशल, योग्य अनुभवी व्यक्ति परोपकार वृत्ति से इसे अपना कार्य समझ कर सम्हाललें तो साधनों की तो कमी नहीं। यह कार्य कुछ ही काल में उन्नत हो सकता है। मेरे पास दोनों वस्तुओं का अभाव है। धन मेरे पास स्थिर नहीं। वैसे जो भी कार्य प्रभु प्रेरणा से आरंभ करता हूँ उसके लिये पर्याप्त धन आ जाता है उस काम के समाप्त होने पर कुछ न कुछ ऋण रह जाता है। परोपकार वृत्ति वाला, निस्वार्थ कोई व्यक्ति मिला नहीं ऐसे योग्य पुरुष भी भाग्य से ही मिलते हैं। भगवान् को इस काम को बढ़ाना होगा तो वे किसी को कभी न कभी भेज देंगे, न बढ़ाना होगा तो मशीन तो सड़ ही रही है। मैं स्वयं न तो धन एकत्रित कर सकता हूँ, न व्यवसाइयों की भाँति तन्मय होकर इसमें जुट सकता हूँ। इसी से प्रेस की ऐसी दुर्दशा हो रही है।

संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)
(ज्ये० शु० ७।२०२२ वि०　　{　　प्रभुदत्त

विषय-सूची

चित्र सूची

भूमिका

त्याग तथा परोपकार

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥
सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

धर्म सिखावे त्याग त्याग तैं होहि विमलमति ।
धर्म स्वर्ग को हेतु धर्म तैं त्याग बड़ो अति ॥
करे कहा उपकार जगत् को जो है भोगी ।
त्यागी साँचो भक्त वही विज्ञानी योगी ॥
जो न करि सके देवगुरु, फँस्यो वित्त महँ जासुमन ।
करे लोक कल्याण सो, आत्माराम निरीह जन ॥

पाठक इस चौवीसवें खण्ड में महाराज बलि की कथा

---

* युधिष्ठिर जी नारद जी से कह रहे हैं—" राजन् ! अधन पुरुष को अपने शरीर निर्वाह के लिये यहाँ तक कि धर्म कार्यों के लिये भी धन की कभी इच्छा न करनी चाहिए। क्यों कि निवृत्ति परायण, अजगर के समान उद्योग हीन पुरुष का निर्वाह उसकी निस्पृहता

पढ़ेंगे। इस सम्पूर्ण कथा का सार यही है, कि विषयों के संग्रह में सुख नहीं, अपितु विषयों के त्याग में ही सुख है। दाम से बढ़कर राम हैं। राम की प्रसन्नता के लिये दाम का—धन सम्पत्ति का—निःसंकोच होकर त्याग कर देना चाहिये। जिन के मन में यह बात बैठी हुई है कि धन होगा तो हम बड़े बड़े परोपकार कर सकेंगे। अतः धन का संग्रह करना चाहिये। उनकी दृष्टि में त्याग से धन श्रेष्ठ है। ऐसे लोग बड़े-बड़े दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं—"सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" धन पास में होगा, तो न होने पर भी हममें सब गुण आजायँगे। धन न होगा तो कितने भी गुण हों सब अवगुण हो जायँगे। अतः स्वार्थ के लिये न भी सही, तो परोपकार के लिये तो धन संग्रह करना ही चाहिये। इसी मतकी पुष्टि असुर गुरु शुक्राचार्य ने की है, उन्होंने वैदिक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि यह शरीर असत्य से ही उत्पन्न हुआ है, अतः इसकी रक्षा के लिये असत्य भी बोला जाय, तो कोई दोष नहीं, अतः अपने धन की रक्षा के लिये भगवान से भी झूठ बोल दो।' किन्तु गुरु वाक्य होने पर भी मनस्वी महाराज बलिने

ही करती है। आप सोचिये जो आनन्द निवृत्ति परायण, सन्तुष्ट तथा अपनी आत्मामें ही रमण करने वाले पुरुष को होता है, वह आनन्द अपनी वासना तथा लोभ लालचके वशीभूत होकर धनके लिये दशों दिशाओं में दौड़ने वाले व्यक्ति को कहाँ मिल सकता है—१

इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे त्याग को ही श्रेष्ठ समझते थे। भगवान् के लिये—सत्य की रक्षा के लिये—हमें धन जन, 'स्वजन बन्धु बान्धव, स्त्री बच्चे यहाँ तक कि अपने शरीर को भी त्यागना पड़े, तो हँसते हँसते उसे त्याग देना चाहिये।" कपट वेष बनाये वामन बने विष्णु को जानते हुए भी उन्होंने तीन पग पृथ्वी-दे दी। अपना सर्वस्व त्याग दिया, किन्तु सत्य से विचलित नहीं हुए। इसीलिये उनकी कीर्ति संसार में अजर अमर बन गई, वे पुण्यश्लोक हो गये, असुर होने पर भी वे देवताओं के पूज्य बन गये और जीवित रहते हुए भी संसार से मुक्त हो गये। त्याग का महत्व ही ऐसा है। जिसकी वृत्ति संग्रह में है वह कृपण है, जिसकी वृत्ति त्यागमयी है, वह उदार है सर्वश्रेष्ठ है। जिसकी चित्तवृत्ति त्याग की ओर जितनी ही जायगी वह उतना ही भगवान् की ओर बढ़ेगा, जिसकी दृष्टि में धन का महत्व जितना ही होगा, वह भगवान् से उतना ही दूर हटता जायगा। सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि अपनी वृत्तियों पर दृष्टि रखे, कि हमारे चित्त की वृत्तियाँ त्याग की ओर जा रही हैं या संग्रह की ओर। यह बात कहने सुनने की, वाद विवाद की नहीं है, अनुभव करने की है। यदि अन्तःकरण अत्यधिक मलिन नहीं हो जाता, तो अपनी अन्तरात्मा स्वयं ही बता देती है कि हम त्याग की ओर बढ़ रहे हैं या संग्रह की ओर। हम दूसरों के सामने ढोंग रच सकते हैं, अपनी तार्किक बुद्धि के बल से सत्य को असत्य सिद्ध कर सकते,

हैं, अपने पाप कर्मों को छिपा सकते हैं, किन्तु अन्तरात्मा से कोई छिपा नहीं सकता। हम किस ओर जा रहे हैं इस विषय में हमारी अन्तरात्मा ही साक्षी देती हैं। हम अपनी वासनापूर्ति के लिये उसे परोपकार या परमार्थ का रूप दे देते हैं। क्रियाओं में अच्छाई बुराई नहीं होती, या तो सभी क्रियायें अच्छी हैं या सम्पूर्ण आरम्भ की हुई क्रियायें दोष युक्त हैं।

जिन दिनों मैं काशी में रहता था, एक सज्जन मेरे समीप आये और बोले "हम यह चाहते हैं कि जितने ये मठ मंदिर हैं तथा देवोत्तर सम्पत्ति आदि हैं इन सब को अपने अधिकार में कर लिया जाय।"

मैंने पूछा—"इसके लिये आपने सोचा क्या है?" उन्होंने कहा—"हम ऐसा करेंगे बहुत से लड़कों को रखेंगे और जहाँ-जहाँ देवोत्तर सम्पत्ति आदि हैं उन मठों के महन्तों के उन्हें चेले बनवा देंगे। अवसर पाकर उन महन्तों को ये बनावटी चेले समाप्त कर देंगे, फिर सब सम्पत्तियों पर अपना अधिकार हो जायगा।"

मैंने कहा—"इस बात का क्या विश्वास है, वे चेले धन सम्पत्ति पाकर सब निर्व्यसनी तथा तुम्हारे पक्ष के ही बने रहेंगे?"

बात यह है, धन पाकर कोई विरले ही भाग्यशाली ऐसे होते हैं, जिन्हें अभिमान नहीं होता। चोरी, हिंसा, असत्य,

दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, अविश्वास, स्पर्धा, त्रास, भ्रम और चिन्ता ये धन में स्वाभाविक दोष हैं। धन का संसर्ग होने पर इच्छा न होने पर भी ये व्यसन शनैः शनैः आ जाते हैं। इस विषय में एक कहानी है। कोई सेठ जी रुपया गिन गिन कर थैलियों में रख रहे थे। रखकर वे जल-पान करने गये, वापस आने पर भी थैली वहाँ न मिली। बहुत देर तक खोज होती रही। लोग अनेकों पर संदेह करने लगे। उसी समय सेठजी ने देखा—'एक चूहा बार बार आता और गद्दी पर उछल कूद मचाकर बिल में घुस जाता। सेठजी ने नौकरों से कहा—"इस चूहे के बिल को खोदो।" नौकरों ने बिल खोदा, थैलियाँ उसमें मिल गईं। लोगों ने पूछा—"सेठजी! आप ज्योतिष जानते हैं क्या? आप को कैसे पता चल गया कि इस चूहे के बिल में थैली है?"

सेठजी ने कहा—"इसमें ज्योतिष जानने की तो कोई बात नहीं। इस चूहे को तो मैं पहिले भी देखता था। चुपचाप रहता था। डरते डरते बिल से निकलता था। आज जो यह इतनी उछल कूद मचा रहा है, अवश्य ही यह पैसे की गरमी है। बिना पैसे के ऐसी उछल कूद कोई नहीं मचा सकता। एक रुपये में एक सेर गरमी बताते हैं।"

यह बात तो उनके सम्बन्ध में है, जो प्रवृत्ति में फँसे हैं, जिन का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों को ही प्राप्त करना

हैं, उन्हें तो धन पाकर अभिमान होना स्वाभाविक ही है, किन्तु जिनका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति करना है, जो मुमुक्षु हैं, यदि वे भी द्रव्य से सम्बन्ध रखेंगे, तो वे भी फँस जायँगे उनका भी पतन हो जायगा। इस धनरूप "काजर की कोठरी में कैसा भी सुजान चला जाय, एक बूंद कालिख की लागे पै लागे है।" छूंछा कोई बच नहीं सकता। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार बार बल दे दे कर कहा है।

तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।

जिसे अर्थ कहते हैं, वास्तव में वह अनर्थ है, अतः कल्याण की इच्छावाले को धन की लिप्सा को दूर से ही त्याग देना चाहिये। धन आने से नाना संकल्प विकल्प मन में उठने लगते हैं। आज के कुछ दिन ही पहिले की बात है, ऋषीकेश तब जङ्गल था, उसमें बस्ती नहीं बसी थी, झाड़ियाँ थीं। साधुओं की गङ्गा किनारे फूसकी कुटियाँ थीं। न कोई क्षेत्र था न साधुओं की भिक्षा का ही कोई प्रबन्ध था। झरबेरिया के बेर, जंगली बेल तथा और भी ऐसी वैसी वस्तुओं से पेट भरकर महात्मा भजन करते थे। उस समय उच्चकोटि के जैसे त्यागी विरागी महात्मा थे, आज अनेकों क्षेत्र लगने पर भिक्षा तथा वस्त्रों की यथेष्ट सुविधा होने पर भी खोजने से वैसे एक भी साधु नहीं मिलते। हाँ, तो ऋषीकेश की झाड़ी में तीन चार महात्मा रहते थे। इधर

उधर से भिक्षा ले आते दिन भर कुटी बन्द करके भजन करते रहते। सायं काल को बालू में सब एकत्रित होते, कुछ देर सत्संग होता फिर सब अपनी अपनी कुटियों में चले जाते। कभी कभी कोई गृहस्थ भक्त भी दर्शनों को चले आते थे। उन दिनों हरिद्वार से ऋषीकेश तक घोर जंगल था। आने जाने की भी सुविधा नहीं थी। फिर भी जिज्ञासु सद्गृहस्थ वहाँ पहुँचते ही थे।

उसी समय एक साधु के पास एक धनी व्यक्ति आये, उनका त्याग वैराग्य देखकर प्रसन्न हुए। श्रद्धावश वे चलते समय महात्मा के बिस्तर के नीचे ५१) रख गये। उन्होंने जताना उचित भी नहीं समझा। महात्मा को भी पता नहीं चला। सायं काल में जब बिस्तर झाड़ा तो वे रुपये दिखाई दिये। अब नित्य जो ब्रह्मविचार में चित्त लगा रहता था, आज वह इन रुपयों में लग गया। महात्मा बड़े विवेकी थे, साधन सम्पन्न थे कोई बुरा विचार तो उनके मन में आने ही क्यों लगा। फिर भी धन को अपना प्रभाव तो दिखाना ही था। महात्मा कभी सोचते—"इन रुपयों से एक कुटी बनवालें। उन दिनों इक्यावन रुपये में पक्की कुटी बन जाती थी। वर्षा में फूंसकी कुटी में बड़ा कष्ट होता है, पुस्तकें भीग जाती हैं।" फिर सोचते—"अरे, कुटी फुटी में तो बड़ा झंझट है। चूना फुकवाओ, पत्थर इकट्ठे कराओ। महीनों खटपट होती रहेगी। अच्छा तो यह है, कल इसका भंडारा कर दें। फिर सोचते—

"इतना सामान लावेगा कौन ? इतने खाने वाले कहाँ से आवेंगे न हो कुछ मिठाई मँगवाकर रखवा दें, नित्य नित्य महात्मा को दिया करें।"

इस प्रकार रात्रिभर वे ऊहा पोह करते रहे। अनेक संकल्प विकल्प उठते रहे। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर ध्यान में बैठे, उसमें भी मन न लगा। सायंकाल को बालू में सब महात्मा एकत्रित हुए। उनके सामने उन्होंने यह प्रस्ताव रखा उनमें जो सब से वृद्ध महात्मा थे, वे बोले—"तुम अभी जाओ उन रुपयों को गंगा जी में फेंक आओ। तब हम से बातें करना।' महात्मा को कोई आसक्ति तो थी नहीं। तुरन्त जाकर वे रुपयों को गंगा जी में फेंक आये। रुपयों को फेकते ही उन के सब संकल्प निवृत्त हो गये। तब उन वृद्ध महात्मा ने कहा—"देखो, हम लोग त्यागी हैं, त्याग ही हमारा धन है, हमें अधिकाधिक त्याग को ही महत्व देना चाहिये। यह धन का संसर्ग ऐसा है, कि बड़े बड़े त्यागियों का भी मन विचलित हो जाता है। एक कार्य आरम्भ कर दो, फिर उसमें एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार अनेकों संकल्प उठते जाते हैं। अधिक संसर्ग रहने से चित्तका खिंचाव हो ही जाता है। अतः जिसने त्याग का व्रत ले रखा है, उसे धन की प्रवृत्ति से बचना ही चाहिये। परोपकार के लिये भी धन से संसर्ग न रखना चाहिये। काजल को जान कर छूओ अनजान में छुओ कालिख तो लगेगी ही।

पूज्यपाद उड़िया बाबाजी ने मुझे एक कहानी सुनाई थी। ऋषीकेश में एक बड़े सिद्ध महात्मा रहते थे। बड़े विद्वान् थे। नग्न रहते थे, कभी किसी से कोई शब्द बोलते नहीं थे, सदा मौनी बने रहते। अपने हाथ से खाते भी नहीं थे। दूसरे लोग उन्हें खिलाते थे। सब लोग उन्हें ज्ञान की, छठी भूमिका में स्थित बताते थे। एक दिन सुना उन महात्मा को कोई चुरा ले गया। बहुत महात्माओं ने ढूंढ़ की उनका कहीं पता नहीं चला। लोगों ने समझा उन्होंने जल समाधि ले ली। कई वर्षों के पश्चात् पता लगा वे बम्बई में अमुक सेठ के यहाँ हैं। लोगों ने दर्शन भी किये। सेठ बड़े धर्मात्मा थे उनकी स्त्री भी बड़ी साधुसेवी भक्तिमती तथा साध्वी थीं। महात्माजी अब भी नंगे ही रहते थे। उनका मौन भी उसी प्रकार चलता था। सेठजी की कोठी के सब से ऊपर के सुन्दर कमरे में वे अकेले ही रहते थे। सेठानी की उनपर अनन्य श्रद्धा थी। वे तन मन धन से उनकी सेवा करतीं।

यह सेवा ऐसी वस्तु है, कि पत्थर का हृदय भी पसीज जाता है संसार में बल, बुद्धि, साहस, श्रम तथा अन्य किसी भी साधन से जो कार्य न हो सके, वह सेवा से हो सकता है। महात्मा का भी चित्त खिंचने लगा। संयोग की बात, सेठजी एक छोटा सा बच्चा छोड़ कर इस लोक से चल बसे। फिर भी सेठानी की श्रद्धा में कुछ कमी नहीं हुई। अब तो महात्मा के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ने लगा। अब वे लिखकर ...

से सेठानी जी को धैर्य बँधाते, उनके सुख दुख की बात सुनते। सेठजी का कारबार बड़ा था। कोई स्वामी न होने से मुनीम लोग मन माना धन उड़ाने लगे। अब तो स्वामी जी उनसे हिसाब लेने लगे, वहीखाता देखने लगे। प्रवृत्ति में तो रागद्वेष होता ही है। जो मुनीम मनमाना धन व्यय करते थे, उनके स्वार्थ में स्वामीजी विघ्न हो गये। वे स्वामी जी के सम्बन्ध में न कहने योग्य बातें कहने लगे। अन्त में स्वामीजी रेशमी वस्त्र भी धारण करने लगे। सोने चाँदी के वर्तनों का भी उपयोग करने लगे। एक बार सेठानी जी के साथ यात्रा में वे श्री वृन्दावन भी पधारे। उनके ऐसे राजसी ठाठ को देखकर लोगों ने प्रश्न किया—"महाराज, छटी भूमिका के पश्चात् भी यह सब होता है क्या ?"

महात्मा जी ने अपना सिर ठोककर कहा—"महात्माओ! विषयों का संसर्ग ऐसा ही होता है। इच्छा से, अनिच्छा से हम जिसकी निरंतर सेवा स्वीकार करेंगे, उसके सुख दुख में हमें संकल्प देना ही होगा। इसीलिये त्यागियों का एक का अन्न खाना निषेध है। उनके लिये मधुकरी वृत्तिका ही विधान है। मेरा कोई ऐसा खोटा प्रारब्ध था जिससे मुझे पुनः इस प्रवृत्ति में फँसना पड़ा।"

अब इसे चाहे प्रारब्ध कहो या प्रमाद कहो, है सब भाग्य का ही चक्कर है। अपनी अपकीर्ति, अपना अपयश, अपना पतन

तथा अपनी अवनति कौन चाहता है ? कौन नहीं चाहता हम सर्वश्रेष्ठ बनें। किन्तु किसी व्यक्ति में किसी विषय में आसक्ति हो जाने पर वह वासना अपरिहार्य हो जाती है। उस वासना की पूर्ति के लिये इच्छा न होने पर भी अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने पड़ते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने मर्म स्पर्शी शब्दों में स्पष्ट कहा है।

निस्संगता मुक्तिपदं यतीनाम्
संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढ़योगोऽपि निपात्यतेऽधः
संगेन योगी किमुताल्पबुद्धिः ॥

आसक्ति रहित होना ही यतियों के लिए मुक्ति का मार्ग है। संग से अनेकों प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं, संगदोष से योगारूढ़ महात्माओं का भी पतन हो जाता है, फिर जो विषयों के कीड़े हैं, वासनाओं के किंकर हैं उनकी तो बात ही क्या है।

प्रायः लोग कहते हैं—"महाराज ! आपको क्या ? आप तो सब परोपकार के लिये, लोककल्याण के निमित्त कर रहे हैं। आप को क्या लेना देना है ?"

रुपयों का लेना देना ही तो लेना देना नहीं है। लोग पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, यश, नाम तथा प्रसिद्ध के लिये क्या क्या नहीं

करते। इन सब के लिये तो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाते हैं। हम जैसे आदमी जिन्होंने अपना ही उपकार नहीं किया वे परोपकार क्या कर सकते हैं। हम तो अपने पाप को छिपाने को परोपकार की आड़ में रात्रि दिन द्रव्य की चिन्ता में संलग्न, पद प्रतिष्ठा की चिन्ता में मग्न रहते हैं। हम लोग परोपकार कर ही क्या सकते हैं, यदि निष्काम भाव से परोपकार किया जाय तो भी उसे निकृष्ट साधन ही बताया है। सर्वोत्कृष्ट साधन तो त्याग है। एक त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है इस विषय में एक कथा है।

कोई शिष्य सद्गुरु के समीप गया और विनीत भाव से उसने कहा—"प्रभो ! मुझे मोक्ष मार्ग का उपदेश दीजिये।"

सद्गुरु ने कहा—"तुम मुझे भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

सद्गुरु ने पुनः कहा—"अच्छा, अपने आपको ही भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"प्रभो ! यह भी मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

सद्गुरु ने कहा—"अच्छी बात भैया ! जब तू ये दो कार्य नहीं कर सकता, तो जा परोपकार कर। किन्तु इतना स्मरण रखना, यह भावना कभी भूल कर भी मत लाना कि मैं अमुक का उपकार कर रहा हूँ। मेरे द्वारा अमुक का उपकार

हो रहा है। सदा इस बात का स्मरण रखना कि अपना आत्मा की शुद्धि के लिये साधन कर रहा हूँ।

वास्तव में यदि इस भावना से परोपकार हो सके, तब तो देर सबेर इस संसार चक्र से छुटकारा हो सकता है। प्राणी प्रभु के पादपद्मों तक पहुँच सकता है, किन्तु जहाँ यह भावना मन में आयी कि "मैं इस क्षेत्र से हट जाऊंगा, तो फिर कोई इस कार्य को कर न सकेगा! मेरे पीछे कितनों का जीविका चल रही है कितनों का भला हो रहा है, कितनों का मैं प्रतिपालन कर रहा हूँ।" समझलो सब गुड़ गोबर हो गया। वह परोपकार नहीं वासना पूर्ति है। यह परमार्थ नहीं स्वार्थ है। इससे संसार बंधन कटने की अपेक्षा और दृढ़ होगा।

इस पर लोग पूछ सकते हैं, कि आप यह सब जानते हुए भी फिर इस प्रकाशन और लेखन के चक्कर में क्यों फँसे हैं? क्यों कहते हैं महीने में दो निकलें, छपाई अच्छी हो, प्रेस हो, यह हो वह हो। क्यों नहीं सबको छोड़ छाड़कर हरि भजन करते। क्यों नहीं 'सर्व त्यक्त्वा हरिं भजेत्' का आचरण करते?"

इस का उत्तर मैं एक दृष्टान्त देकर दूँगा। देहरादून जिले में भोजपुर एक ग्राम है। ऋषीकेश से भी वहाँ के लिये मार्ग जाता है और रायपुर से भी। नहर का किनारा है, बड़ा सुन्दर स्वास्थ्यप्रद स्थान है। वहाँ एक गृहस्थ अपना घर

बनवा रहे थे। उसी समय एक महात्मा आये और बोले—हम भी भैया, तुम्हारे यहाँ काम करेंगे। गृहस्थी ने बहुत मना किया, किन्तु उन्होंने हठ की। घर चुनने वाले राज ने कहा—"अच्छी बात है, आप मुझे भीति चिनने के लिये गारा देते रहिये।" दिन भर महात्मा गारा देते रहे। सायंकाल के समय परिश्रम करते-करते थक गये। जो उन्हें पारिश्रमिक मिला उसकी वे घी चीनी तथा सूजी ले आये। सुन्दर हलुआ बनाया, जब हलुआ बन गया, तो उसमें उन्होंने वह मिट्टी का गारा भी मिला दिया। अब उसे खाने लगे। मिट्टी के गारे से मिला हलुआ कंठ से नीचे कैसे उतरे। दो चार बार कौर तो निगल गये, किन्तु अब निगलने में कठिनाई होने लगी। महात्मा जी ने अपने हाथों से दोनों गालों को कसकर मसल दिया हलुआ को मुँह में ठूँस-ठूँसकर कहने लगे—"खा, पापी खा पापी। ले और हलुआ खा।"

बहुत से दर्शनार्थी जुट गये। महात्मा जी का ऐसा पागलपन देखकर सब पूछने लगे—"महाराज! क्या बात है? क्यों आप हलुआ में गारा मिलाकर बलपूर्वक मुँह में ठूँस रहे हैं?"

इस पर महात्मा बोले—"मैं एकान्त कुटी में भजन करता था। गाँवों से रूखी-सूखी मधुकरी माँगकर पेट को भर लेता। भजन करता रहता। एक दिन मनमें वासना उठी हलुआ खाना चाहिये।" मैंने अपनी इस वासना को बहुत दबाया, किन्तु

दवी नहीं। मैंने अपने मन को बहुत समझाया, किन्तु वह समझा नहीं।"

जब मैं विवश हो गया, तो मैंने कहा—"अच्छा बच्चू जी! चलो। तुम्हें भी पता चले, कि हलुआ खाना सरल नहीं है। उसमें कितना श्रम होता है। कितने कष्ट से हलुआ बनता है। आज दिन भर मैंने परिश्रम किया। बार-बार मन को समझावा, पोल और हलुए पर चित्त चलावेगा। दिन भर परिश्रम करके मैंने हलुआ बनाया। मुझे गारे ने हलुआ प्राप्त कराया। अतः हलुए में गारा भी मिलाया। हलुआ भी एक प्रकार की मिट्टी का गारा ही है। अब जब इसे मैं गारा मिश्रित हलुआ खिलाता हूँ, तो यह खाता नहीं। नाक भौं सिकोड़ता है। इसलिये जब तक मन यह न कहदे कि हाँ अब मुझे हलुआ नहीं खाना है ऐसे ही मुख में ठूँसता रहूँगा। मन को बोध तो हो जाय, एक वासना की पूर्ति में कितना कष्ट है।"

लोगों ने कहा—"यह तो स्वाद के, रुचि के प्रतिकूल है।"

महात्मा ने कहा—"मनके अनुकूल इसे आहार देते तब तो वासना की वृद्धि और होती, प्रतिकूल में लगाकर ही तो इसे यह जताना है, कि वासना पूर्ति में कितना श्रम करना पड़ता है। कैसे अपने स्वाद के प्रतिकूल वस्तुओं को कंठ से नीचे उतारना पड़ता है।"

यथार्थ वात यह है कि मेरे मनमें लोकेष्णा है पुस्तकें लिखना तो मेरी प्रकृति के अनुकूल हैं। इसमें मुझे तनिक भी श्रम नहीं होता, किन्तु प्रकाशन प्रचार ये सब बातें मेरी प्रकृति के प्रतिकूल हैं, किन्तु इनके बिना पुस्तकें लिखने की वासना पूर्ति होती नहीं। अतः बल पूर्वक मेरे मन को कोई इस प्रकाशन में लगाये हुए हैं। देख लें इसमें कितने-कितने कष्ट हैं कितनी-कितनी असुविधायें हैं। इतना सब होने पर भी मन मानता नहीं। बार-बार यही कहता है—"१०८ तो पूरे कर ही दो।"

मैं कहता हूँ—"अच्छी बात है करो और अपनी करनी का फल भरो। 'जैसी करनी वैसी भरनी'।

सो, इच्छा न रहने पर भी, प्रकृति के प्रतिकूल कार्य होने पर भी अपनी वासना पूर्ति के लोभ से यह कीचड़ भरी टोकरी मुझे अपने सिरपर रखकर ढोनी पड़ रही है। प्रवृत्ति जितनी ही बढ़ती जाती है असुविधायें उतनी ही विस्तृत होती जाती हैं। मनुष्य समझता है, मुझे अमुक वस्तु मिल जाय, तो मेरी सभी असुविधायें दूर हो जायं, किन्तु जब वह वस्तु मिल जाती है, तो दूसरी अन्य इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इच्छाएँ तो अगणित हैं। एक असुविधा को पूरी करो दस और उत्पन्न हो जायँगी। अब तक प्रेस नहीं था ,यही असुविधा थी। अब प्रेस आ गया तो अमुक वस्तु मँगाओ। आज कागद नहीं, स्याही नहीं, नौकर नहीं। ये ही सब बातें हैं। अब देखिये,

भगवान् कब तक इन वासनाओं में फंसाये रखेंगे। कब तक इस प्रवृत्ति में जोते रखेंगे। वे ही जाने, किन्तु प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेष्ठ है, परोपकार से भी अधिक त्याग मय जीवन परम श्रेष्ठ है। यह मेरी धारणा जब तक भी बनी हुई है। तभी तक कुछ आशा भी है जिस दिन मेरी यह धारणा मिट जायगी उस दिन फिर यह चौरासी का चक्कर रखा ही है।

पाठकों के पादपद्मों में यही प्रार्थना है। कि वे ऐसी मनोकामना करें कि निरन्तर भगवान् का स्मरण ध्यान करता रहूँ। आज कल यह नहीं हो रहा है यही बड़ा दुःख है। देखें प्रभु कब तक इस स्थिति में रखते हैं। कब निरन्तर उन्हीं की अनुकम्पा की एक मात्र प्रतीक्षा बनी रहेगी, कब जीवन को एकमात्र प्रारब्ध के ऊपर छोड़कर योगक्षेम की चिन्ता से सर्वथा निर्मुक्त बन सकूंगा? कब निरन्तर हृदय से, वाणी से, मन से तुम्हारा चिन्तन कीर्तन और ध्यान करता हुआ समय को बिताऊँगा ? हे प्रभो! आपके जिन पादपद्मों में मुक्ति लोटती रहती है उन पादपद्मों को कब प्राप्त कर सकूँगा ?

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो—
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते,
जीवेत् यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

छप्पय

कब अच्युत अखिलेश दास कहिकें अपनावें।
कब नित निरखत रहैं नन्दनन्दन दुरि जावें॥
कब मन बानी करम सकल तैं हरिकूँ पोसें।
कब सब तजि परपंच भाग्य के रहैं भरोसें॥
निरखें हरि को हाथ कब, सब कर्मनिमहँ हम सतत।
कब हरि सुमिरन भजन महँ, रहैं निरन्तर नित निरत॥

संकीर्तन भवन
भूसी (प्रयाग)
वैशाख शु० ४ । २००६

विनीत—
प्रभुदत्त

(५७१)

क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ।
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपम्
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ॥*
(श्रीभा० ८ स्क० २० अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

फूली जनु कन्नेर अष्ट कर शस्त्र विराजैं ।
अंगद कुण्डल मुकुट मेखला अंगनि भ्राजैं ॥
भ्रमर निकर गुंजायमान बनमाला सुन्दर ।
मधु लोलुप मधु पियें गान कर मादक मधुकर ॥
लम्ब तड़ंगे विश्वमय, बने विष्णु वामन छली ।
जब नापै पग तैं मही, सो शोभा अतिईं भली ॥

जो पहिले से ही बनावटी वेप बनाकर गया है उसकी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन विराट बने वामन ने अपने एक पग से सम्पूर्ण पृथिवी नाप ली । शरीर से आकाश को और भुजाओं से दिशाओं को घेर लिया, फिर दूसरे पैर से स्वर्ग को भी नाप लिया अब उनके तीसरे पद के लिये तो अणुमात्र भी स्थान न बचा ।

बनावट तभी तक रहती है, जब तक कार्य सिद्ध नहीं होता। जहाँ कार्य सिद्ध हुआ, कि वह अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य की आकृति उसके भावों का प्रतीक है, जैसे भाव होंगे वैसे ही आकृति वन जायगी। छद्म वेप अधिक समय तक टिक नहीं सकता, उसका भंडा फोड़ हो ही जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्व रूप धारण करने पर भगवान् वामन के हाथ में जो दंड, कमंडलु आदि ब्रह्मचारियों के योग्य वस्तुएँ थीं वे सब नहीं बढ़ीं। उनका स्वरूप ही बढ़ा। स्वरूप बढ़ने के साथ भगवान् के अंग उपाङ्ग, अस्त्र, आयुध तथा पार्षद आदि नित्य आ गये। अब वे बौने से विराट बन गये, वामन से विष्णु हो गये छोटे से विशालता में परिणित हो गये। ब्रह्मचारी से विश्वचारी हो गये।

जब भगवान् के नित्य अस्त्र, आयुध तथा पार्षद आदि ने देखा, कि भगवान् अपना कपट वेप त्यागकर अपने यथार्थ रूप में आ गये हैं। तब तो वे भी छाया की भाँति नित्य साथ रहने वाले अपने साक्षात् रूप से वहाँ आकर उपस्थित हो गये। सर्व प्रथम भगवान् के परम प्रिय दिव्य अस्त्र सुदर्शन चक्र आये। उनका तेज असह्य था। वे अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। वे यथा स्थान आकर भगवान् के श्री हस्त में शोभित हुए। आज भगवान् चतुर्भुज न होकर अष्टभुजी बने हुए थे। अतः आठों हाथों के आयुध क्रमशः आ आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगे— चक्र के पश्चात् श्रीहरि का दिव्य शार्ङ्ग नामक धनुप आये जो

जल भरे नवीन मेघों के समान टंकार करने वाला था। इसके पश्चात् भयंकर घोष करके असुरों के छक्के छुड़ा देने वाला पाञ्चजन्य नामक प्रभु का शङ्ख आया फिर अत्यन्त वेग वाली मूर्तिमति श्रीमति कौमोदकी नामकी भगवान् की विशाल गदा आई। अत्यन्त कठिन चर्म की चन्द्रमा के समान गोल प्रहार को बचाने वाली ढाल आई और साथ ही विद्याधर नामक असुरों के उदरों को विदीर्ण करने वाला खड्ग भी आया। भगवान् के पृष्ठ देश में लटकने वाले ऐसे दो बाण रखने के तूणीर भी आये जिनके बाण कभी खाली ही नहीं होते थे। भगवान् का दिव्य क्रीड़ा कमल भी आया, जिससे वे कमला के साथ कमनीय क्रीड़ायें करते हैं; जिसकी उपस्थिति से भव सागर में पड़े हुए भक्तों को अभय प्रदान करते हैं। इस प्रकार शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, ढाल, तलवार, धनुष, और बाण ये आठ आयुध भगवान् के आठों श्री हस्तों में आकर शोभायमान हुए।

भगवान् के प्रिय पार्षदों ने तथा अंशभूत आठों लोकपालों ने जब देखा कि भगवान् ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर दिया है और वे आयुधों से युक्त हो गये हैं, तो आठों लोकपाल, नन्द, सुनन्द, विष्वक्सेन आदि प्रभु के प्रमुख पार्षदगण भी आकर उपस्थित हुए। उस समय की भगवान् की शोभा अत्यंत ही अद्भुत थी। लोकपाल और पार्षदों से वे घिरे हुए थे। दिव्य आयुध उनके श्री हस्तों में विराजमान होकर अपनी आभा से विश्व को आभासित कर रहे थे। उनके मनोहर मस्तक पर देदीप्यमान मुकुट दमदम करता हुआ दमक रहा था। आठों बाहुओं में सुवर्ण के अंगद चमचम करते हुए चमक रहे थे। मकराकृत कुण्डल कपोलों की श्री वृद्धि करते हुए हहर-हहर

करते हुए हिल रहे थे। वक्षस्थल में विराजमान श्रीवत्स के चिन्ह पर मणियों में श्रेष्ठ कौस्तुभमणि अपनी किरणों के समूहों से आश्रितजनों के हृदयान्धकार को मिटाने के लिये व्यग्रता सी प्रकट करती हुई चंचलता दिखा रही थी। कटि प्रदेश में लिपटी मनहर मेखला श्रीअंगकी आभा को घनीभूत करने के लिये उसे मर्यादा में रखने के लिये—प्रयत्नशील थी। उन विविध वेष बनाने वाले नटवर के तन पर पीतपट फहरा फहरा कर दामिनी की दमक को तिरस्कृत करने के लिये अभ्यास कर रहा हो। वक्षस्थल में पड़ी हुई पंचपल्लव और पुष्पों से ग्रथित वनमाला अपनी आभा से इन्द्रधनुष के गर्व को खर्व करती हुई झोंटे खा रही थी। उसके पुष्पों से चूते हुए मधुको पानकरने के लिये मधुकर मतवाले घने उसके चारों ओर मँडरा रहे थे। भ्रमर निकर की गुञ्जार से गूँजित वह वनमाला ऐसी प्रतीत होती थी मानों हिल-हिलकर गीत गा रही हो और उस गायन को श्रवण करके रसिक भ्रमर सिर हिला-हिलाकर उसका अभिनन्दन कर रहे हों।

अब वे विचित्र वेषधारी वटु वामन से विष्णु बने विभु बलि से बोले—"कहो, राजन्! अब आपने देखा मेरा यथार्थ स्वरूप ? कहो तो अब नापूँ तीन पग पृथिवी ?

बिना व्यग्रता प्रकट करते हुए वीरवर बलि बोले—"प्रभो! नापिये। इन तीनों लोकों का मैं अधीश्वर हूँ। आप अपनी इच्छानुसार रूप बढ़ाइये और अपने दान को ग्रहण कीजिये।"

सूखी-हँसी हँसकर विराट प्रभु बोले—"यदि पूरा न पड़ा तब ?"

बलि ने साहस के साथ कहा—"तब क्या ? देखा जायगा। आप नापिये तो, देखें आप हारते हैं या मैं ?"

यह सुनकर विराट् बने वामन ने एक पैर उठाया सातों पातालों के सहित सम्पूर्ण पृथिवी मंडल को उन्होंने एक पैर में ही नाप लिया। आकाश को अपने विशाल शरीर से ढाक लिया। आठों दिशाओं को अपने आठों हाथों से ढक लिया। अब फिर उन्होंने दूसरा पैर बढ़ाया स्वर्ग भी कम पड़ा इस लिये महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक तक वह दूसरा पैर पहुँच गया। फिर भी एक नख संकुचित ही रहा। नख को अब कहाँ फैलावें ब्रह्माण्ड कटाह का तो ब्रह्मलोक में और है। उसके पश्चात् तो अष्ट प्रकृति के सूक्ष्म आवरण हैं नख कुछ साधारण तो था ही नहीं। उसने ब्रह्माण्ड कटाह का भेदन कर डाला। पृथिवी के सूक्ष्म आवरण को भेदकर जल के आवरण को भेदा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस पर विराट् भगवान् ने एक डग में तो इस समस्त वसुन्धरा को नाप लिया और दूसरी डग में ऊपर के समस्त लोकों को नापा। जब भगवान् का पावन पादपद्म लोकों को नापता हुआ, ब्रह्मलोक में पहुँचा, तब तो ब्रह्माजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अहा! ये ही मेरे जनक के परमपूजनीय पवित्र चरण कमल हैं जिनके ध्यान से यह जगत् बन्धन सदा के लिये विलीन हो जाता है। जिस की प्राप्ति के लिये योगीगण, निरन्तर ध्यान धारण करते हुए समाधि लगाते हैं, आज ये चारु चरण स्वतः ही मेरे लोक में आगये। इस प्रकार अपनी भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भगवान् चतुरानन उस पद की पूजा करने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

सागर कानन शैल, नदी नद सर निर्भरिनी।
सात भूमि पाताल सहित सगरी यह धरनी॥
बलि की जहँ लगि भूमि नापि वामन ने लीन्हीं।
फैलाये पग विशद पाद अन्तर्गत कीन्हीं॥
काया तैं आकाशकूँ, अष्ट करनि तैं अष्ट दिशि।
गयो द्वितिय पद स्वर्ग महँ, जन,तप, सत्यहु में प्रविशि॥

प्रभु पादपद्मों से विष्णुपदी गङ्गा का प्राकट्य

(५७२)

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि,
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० ११ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

फोरयो अंड कटाह चरन नख पार गयो जब ।
बही सलिल की धार कमंडलु विधि धारी तब ॥
विष्णुपदी पुनि भई पखारे पग श्रीहरि के ।
श्री गंगाजी चलीं भूमिपै वहीं उतरि के ॥
शत योजन पै बैठिकैं, जे गंगा गङ्गा कहहिँ ।
ते नर पावैं परमपद, भूखे नंगे नहिँ रहहिँ ॥

यह विश्व ब्रह्मांड व्यापक विभु के एक पाद में है और शेष

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजेन्द्र ! ब्रह्माजी के कमण्डलु का वह जल जो उरुक्रम भगवान् के पाद प्रक्षालन से परम पवित्र

तीन पग तो विशुद्ध त्रिपाद विभूति बताये गये हैं। जब वे अवतार धारण करते हैं, धराधाम पर अवतरित होते हैं, तो द्विपाद वाले बन जाते हैं। दो पैरों में ही ब्रह्मांड कटाह को आवृत कर लेते हैं और लोक कल्याण के लिये अपनी विशिष्ट विभूति से श्रीगंगा को अवतरित करते हैं। गंगाजी और कुछ नहीं हैं वह द्रवित हुआ ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने ही निराकार धारण कर लिया है। घनीभूत परब्रह्म ही पिघल कर जल रूप में परिणित हो गये हैं। जैसे वे अन्य अवतारों में अवतरित होते हैं, वैसे ही सत्यलोक से जल रूप में समस्त लोकों को पावन बनाते हुए अवतरित हुए हैं। उसी ब्रह्मद्रव का नाम गंगा हैं। विष्णु पद प्रक्षालन के कारण उसे ब्रह्मपदी कहते हैं, सुरलोक से आने के कारण सुरसरि कहाती हैं। वे त्रिभुवन तारिणीतरल तरंगों वाली स्वर्धुनी गंगा पापियों के पापों का प्रक्षालन करती हुई अद्यावधि अवनि पर अवस्थित हैं। वे मानों वामन और बलि की विमल कीर्ति ही जल का रूप रखकर अविच्छिन्नगति से बह रही हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दो पगों से प्रभु ने पृथिवी और ऊपर के समस्त लोकों को नाप लिया, तो भी द्वितीय पैर का अँगूठा कुछ संकोच के कारण मुड़ा ही हुआ रह गया। ज्यों ही भगवान् ने अपने अंगुष्ठ को सीधा करने का प्रयत्न किया, त्यों ही ब्रह्मांड कटाह फट गया। इस ब्रह्मांड के पश्चात् प्रकृति के अष्ट आवरण हैं। प्रथम सूक्ष्म पृथिवी का आव-

---

गया था, उसी से विष्णुपदी गंगाजी हुई जो आकाश से गिरती हुई तीनों लोकों को पावन करती हैं और जो भगवान् की मानों बढ़ी हुई कीर्ति ही हैं।

रण; द्वितीय जल का आवरण। वह प्रभु के पादांगुष्ठ का नख पृथ्वी आवरण को भी भेद का जल आवरण में घुसा तो वहाँ से एक विशुद्ध जलधारा वही। उसे अति पावन समझ कर चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु में उसे रख लिया।

आज प्रभुके पूज्य चरण पितामह के लोक में पधारे हैं। अतः उनकी पूजा के निमित्त ब्रह्माजी सामग्री एकत्रित करने लगे। गंगा जी को हम पूजा करते हैं, तो पाद्य, अर्घ्य तथा आचमनीय आदि के लिये जल कहीं अन्यत्र से नहीं लाते। वहीं से भर लेते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मांड कटाह के भेदने पर जो दिव्य जल निकला उसीसे ब्रह्माजी उन प्रभु के द्वितीय चरण की श्रद्धा सहित पूजा करने लगे।

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी! ब्रह्माण्ड कटाह भेद कर जल निकला, यह बात कुछ हमारी समझ में नहीं आई। इसे स्पष्ट करके समझावें।

सूतजी बोले—"महाराज! ७ नीचे के—अतल, वितल सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये लोक और सात ऊपर के—भू, भुव, स्वर्ग, मह, जन, तप और सत्य—ये लोक, इस प्रकार ये दोनों मिलकर चतुर्दश भुवन कहाते हैं। इसे एक ब्रह्माण्ड भी कहते हैं। यह मिलकर एक अंडाकार बन गया है। ब्रह्म का अंडा होने से यह ब्रह्माण्ड कहाता है। इस ब्रह्माण्ड के बाहर इससे दश गुना सूक्ष्म पृथिवी का आवरण है। अर्थात् पृथिवी का जो अति सूक्ष्म रूप है, वह ब्रह्मांड के बाहर इससे दशगुना व्याप्त है। उससे दशगुना सूक्ष्म जल का आवरण। इसी प्रकार उत्तरोत्तर तेज, वायु, आकाश, अहंतत्व

महत्तत्त्व और सबसे अंत में प्रकृति तत्त्व का आवरण है। तब यह ब्रह्मांड पूरा होता है। ऐसे असंख्यो ब्रह्मांड इस विश्व में हैं ब्रह्माण्ड तो एक गूलर के फल के समान है। उसमें ब्रह्माजी से लेकर चींटी तक के सब जीव भिनगों के समान हैं। गूलर मे बैठे भिनगे समझते हैं बस, संसार इतना ही बड़ा है। जो इस गूलर को वेधकर भिनगा निकलता है, वह देखता है, हमारे गूलर के जैसे असंख्यों गूलर इसी पेड़पर लटके हुए हैं और वह गूलर का वृक्ष अनंत आकाश मण्डल में एक तृण के समान है।

भगवान् लीला करने को वामन बन जाते हैं और फिर विराट् रूप रखते हैं, उनके लिये क्या वामन क्या विराट सब समान ही हैं, जीवों के हितार्थ तनिक पैर बढ़ाकर सत्यलोक की ओर बढ़ा दिया जिससे ब्रह्मांड कटाह से बाहर का विशुद्ध जल पापियों को पावन बनाने के लिये पृथिवी पर आ गया।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्माजी के कमण्डलु से वह पृथिवी पर कैसे आया?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यही तो भगवान् शुक महाराज परीक्षित् को बता रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् का वह पूजनीय पादारविन्द ब्रह्माजी ने अपने लोक में प्राप्त हुआ देखा, तो उनकी प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। उन्होंने देखा यह कमलदल के समान अरुणतल वाले पगनख चन्द्र-की चन्द्रिका से उनके नित्य सनातन आभावान् लोक की आभा भी फीकी पड़ गई है और मैं भी स्वयं जिसकी कान्ति से आच्छादित हो गया हूँ, तो वे संभ्रम के साथ उठ खड़े हुए।

बात की बात में समस्त ब्रह्मलोक में यह बात फैल गई, कि उरुक्रम भगवान् का चरण लोकों को नापता हुआ हमारे लोक में आया है तो जिन लोगों ने उन्हीं चरणों के स्मरण के प्रभाव से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है, जिसे कर्म कलाप से कोई प्राप्त कर ही नहीं सकता, वे पुण्यात्मा पुरुष ब्रह्माजी के समीप दौड़े आये। ब्रह्माजी के मानस पुत्र मरीचादि भी सुनते ही तुरन्त आ गये। ब्रह्म सभा में विराजमान सनकादि उर्ध्वरेता नैष्ठिक, ब्रह्मचारीगण, योगिजन, तथा मूर्तिमान, वेद, उपवेद, यम, नियम, तर्क, इतिहास, वेदाङ्ग, पुराण, संहिता, तथा ज्ञानरूप अग्नि से जिन्होंने अपने अज्ञानरूप मल को भस्मसात कर डाला है ऐसे ज्ञानी पुरुष भी उस पादारविन्द के समीप समुपस्थित हुए और उसको प्रणाम करके सब के सब स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी ने अपने कमंडलु के उसी दिव्य जल में गंध पुष्प और तुलसी डाल कर उनको धोया। प्रभु पाद की पावन रेणु और तुलसी मंजरी की दिव्य गंधको लिये हुए वह त्रैलोक्य पावन पद नीचे की ओर बहा। ब्रह्मा जी के सहित समस्त ऋषि मुनियों ने उसे अपने अपने सिरों पर धारण किया। फिर वह अविच्छिन्न प्रवाह रुका नहीं। ब्रह्मलोक से उतर कर तप, जन, मह, लोक होता हुआ स्वर्ग में आया। वह पादोदक ही स्वर्ग में मन्दाकिनी से पाताल में "भागवती" नाम से और पृथिवी में "गंगा" नाम से विख्यात हुआ। वह मानों वामन भगवान् की विमल तरल कीर्ति ही तीनों लोकों को पावन करती हुई वह रही हो?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूत जी, हमने तो सुना है, गङ्गाजी को महाराज भगीरथ लाये थे। आप कह रहे हैं

यह विराट् वामन के द्वितीय पादाङ्गुष्ठ से विदीर्ण अंड कटाह से ब्रह्मा जी के कमंडलु में आई और पुनः पाद प्रक्षालन से अति पवित्र होकर समस्त लोकों को पावन करती हुई यहाँ पधारी। इसकी संगति कैसे बैठे ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! गङ्गाजी तो नित्य ही हैं यदि नित्य न होतीं और महाराज भगीरथ ही लाये होते तो महाराज हरिश्चन्द्र के समय में वे काशी में कहा से आतीं। महाराज हरिश्चन्द्र तो भगीरथ जी से बहुत पहिले हो चुके हैं। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु हुये। इक्ष्वाकु के विकुक्षि, विकुक्षि के पुत्र पुरंजय, पुरंजय को ही ककुत्स्थ कहते हैं। ककुत्स्थ के पुत्र अनेना और अनेना के पृथु, पृथु के विश्वरन्धि, विश्वरन्धि के चन्द्र, चन्द्र का युवनाश्व हुआ। युवनाश्व का शावस्त, और शावस्त का कुवलयाश्व। उसका दृढाश्व का हर्यश्व और उसका निकुम्भ हुआ। निकुम्भ से वर्हणाश्व, उससे कृशाश्व, कृशाश्व से सेनजित उससे युवनाश्व, युवनाश्व के मान्धाता। मान्धाता के पुरुकुत्स और पुरुकुत्स का त्रसदस्यु, उससे अनरण्य, अनरण्य के हर्यश्व, हर्यश्व के त्रिवन्धन उसका त्रिशंकु तथा त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र हुए, हरिश्चन्द्र के रोहिताश्व उनके हरित, हरित के विजय, विजय के भरुक उसके वृक, वृक का वाहुक पुत्र हुआ। वाहुक के सगर और सगर के असमंजस। असमंजस का पुत्र अंशुमान् हुआ। अंशुमान् के दिलीप और दिलीप के पुत्र हुए महाराज भगीरथ। इनके नाम से भगवती गंगा भागीरथी कहाती हैं। महाराज हरिश्चन्द्र इनसे १२ पीढ़ी पहिले हो चुके हैं तब भी गंगाजी थीं।

बात यह है कि भगवती विष्णुपदी तो सनातन हैं। वे बद्रीनारायण जी के चरणों को प्रक्षालन करती हुई, अलक

नन्दा के नाम से पहिले से ही बहती थीं तथा कहीं अन्यत्र जाकर समुद्र में मिलती थीं। सगर के साठ हजार पुत्र दक्षिण समुद्र के किनारे भस्म हुए थे वहाँ गंगाजी को लाना था, अतः उन्होंने गंगोत्री में जाकर तपस्या की। तब गंगाजी की एक नवीन धारा वे लाये। वे ही भागीरथी गंगा हुईं देव प्रयाग में आकर वे भगवती अलकनन्दा से मिल गईं। समुद्र के समीप तक दोनों साथ चलीं, फिर भागीरथी अलग होकर सगर पुत्रों को तारने गईं वही स्थान गंगासागर हुआ। उत्तराखंड में आज भी अलकनन्दा और भागीरथी गङ्गा की दो पृथक् पृथक् धारायें बहती हैं, जिनका संगम देवप्रयाग में होता है। अतः विष्णुपदी और भागीरथी पृथक् पृथक् होने पर भी एक ही हैं। इनमें कोई भेद नहीं। जैसे विष्णु सनातन हैं, वैसे गङ्गा भी सनातन हैं इनमें आगे पीछे का प्रश्न ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्मलोक में पाद-पूजा होने से ब्रह्माजी का मनोरथ भी पूर्ण हो गया और भगवती विष्णुपदी का भी प्राकट्य हो गया। ये गङ्गा तीनों लोकों को पावन करने वाली हैं। आकाश गङ्गा के रूप में ये सदा ऊपर व्याप्त रहती हैं, जैसे वायु सर्वत्र व्याप्त रहती है। किसी यन्त्र विशेष से उन आकाश गङ्गा के कण एकत्रित करते हैं, जो हिम बनकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। भगवती गङ्गा के अनेक रूप हैं, कोई कहते हैं, ये भगवान् के चरणों का धोवन-चरणोदक है, कोई कहते हैं, नारदजी की वीणा के स्वरों को सुनकर भगवान् द्रवित होते होते जल बन गये, उन्हें ब्रह्माजी ने तुरन्त अपने कमंडलु में धारण कर लिया, वे ही त्रिभुवन तारिणी गङ्गा हुईं। इसीलिये इन्हें ब्रह्मद्रव कहते हैं। सारांश इतना ही है कि गङ्गा का भगवान् के साथ अभेद सम्बन्ध

है। जैसे प्रभु पादपद्म समस्त पाप पहाड़ों को पलभर में ढहा देते हैं, वैसे ही गंगाजी का जल प्राणियों के समस्त अशुभों को नाश करके उन्हें क्रमशः परमपद का अधिकारी बना देता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार दो पैर में ही समस्त ब्रह्माण्ड को नापकर भगवान् ने अपने रूप को संकुचित किया। पुनः वे अपने प्राकृत रूप में आगये।

छप्पय

जग जननी माँ अंग अंग सुख का सरसावै।
मन पुलकित पयपान लहर लखि हिय हरसावै॥
पाप पहाड़ ढहाय पुण्य को पोत पठावैं।
तापै चढ़ि माँ! भक्त सहज भवनिधि तरि जावैं॥
प्रभुपद रज तुलसी सहित, ब्रह्म कमंडलु तैं निकसि।
सब स्वर्गनि पावन करति, गिरि भू, पुनि जलनिधिप्रविसि॥

वटु वामन पर असुरों का क्रोध

(५७३)

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥
तस्मादस्यवधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं चनः।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरा सुराः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २१ अ० ११, ३१ श्लो०)

छप्पय

द्वै डगतैं जग नापि बने पुनि—हरि बटु बालक।
लखि छल सबई दैत्य भये क्रोधित पुरपालक ॥
मारौ, यह द्विज नाहिँ विष्णु छलिया असुरारी।
स्वामी कूँ छलि ठगी सबहिँ सम्पत्ति हमारी ॥
जीवित जान न पाइ जिह, अब यमपुर को मग गहै।
क्रोधित असुरनि तैं बिहँसि, महा मनस्वी बलि कहै ॥

सच्चा सेवक वही कहलाता है जो अपने स्वामी के सुख में सुखी हो, दुख में दुखी हो। उसके लाभ में अपना लाभ

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् महराज बलि के अनुचर असुर आपस में कहने लगे—"याचना करने वाले इस शत्रुरूप वटुवामन ने हमारे स्वामी के सर्वस्वका अपहरण कर लिया है। यज्ञमें दीक्षित

समझे, उसकी हानि में अपनी हानि समझे। उसके हित के लिये प्राणों का मोह परित्याग करके सतत् प्रयत्न करता रहे। स्वामी की सेवा में यदि प्राण भी अर्पण करने हों, तो उनका मोह परित्याग करके प्राणों को अर्पण करते, स्वामी के शत्रु को अपना शत्रु समझकर सदा उससे युद्ध करने के लिये उद्यत रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक पग से पूरी पृथिवी को और एक पग से समस्त ऊपर के लोकों को नाप कर वामन वटु फिर ज्यों के त्यों बौने बन गये और बोले—"कहो, राजन्! तुमने तो तीन पग पृथिवी देने को मुझे वचन दिया था। यह तो दो पग भी पूरे नहीं हुए। अब तीसर की क्या व्यवस्था होगी?

महाराज बलि लज्जित हुए खड़े थे। संसार भर में हल्ला मच गया, वामन भगवान् ने बलि का सर्वस्व छलसे ले लिया। ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक से अपने अनुचरों सहित लैंया पैंया दौड़े आये। लोक पाल आ गये, छिपे हुए देवता प्रकट हो गये। सभी ने जल, फल, फूल, माला, गन्ध, अक्षत, धूप, दीप अङ्कुर, लाजा आदि से भगवान् की पूजा की उनका महिमा से स्तोत्रों का गान किया, चरणामृत का पान किया भक्ति भगीरथ में स्नान किया, उनके विश्ववन्दित विराट् रूप का ध्यान किया, प्रभु की भक्ति वत्सलता पर अभिमान किया विविध वस्तु का ब्राह्मणों को दान किया बड़े बूढ़े

होने के कारण उन्होंने अस्त्र शस्त्रों को भी छोड़ दिया है। इसलिये हमारा वटु का वध करना ही उचित धर्म है। इसमें हम अपने स्वामी की सेवा कर सकेंगे। ऐसा कह कर उन्होंने शस्त्रों को उठा लिया।

ब्रह्मादिकों का सम्मान किया। सुन्दर मधुर पदों का ताल स्वर सहित गान किया, बार बार जय घोष किया, गन्धर्वों ने बाजे बजाये, अप्सराओं ने नृत्य किया। विविध बाजे बजने लगे। स्वर्ग पर पुनः आधिपत्य करने के साज सजने लगे। शंख दुंदुभि के शब्दों से दशों दिशायें भर गईं। रीछों के राजा जाम्बवान उन दिनों संसार में सबसे अधिक शीघ्रगामी थे। अतः उन्होंने दशों दिशाओं में सम्पूर्ण संसार में भेरी बजा बजा कर इस बात की घोषणा कर दी कि अब से इस समस्त पृथिवी के स्वामी वामन भगवान् हो गये। वे कहते जाते थे—"जगत् जगतपति का, आधिपत्य वामन भगवान् का, आज्ञा ब्रह्माजी की। बलि अब राजा नहीं रहा अदिति के सुतों के अधिकार में तीनों लोक आ गये।" तब तक वामन सम्हल कर बैठे भी नहीं थे, तभी मन के समान वेग से जाकर वे इस कार्य को करके हरि के समीप लौट आये।

महाराज बलि तो शांत थे, भगवान् की लीला देख कर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे वे तो इसे लीलाधारी की लीला ही समझ रहे थे, किन्तु उनके अनुचर वामन भगवान् पर अत्यन्त ही क्रुद्ध हुए। वे परस्पर कहने लगे 'अरे' यह ब्राह्मण नहीं ठग है, मायावी है, बहुरूपिया छली है।

एक ने कहा—"इसे दान फान कुछ नहीं लेना है। यथार्थ बात तो यह है कि यह है विष्णु। यह स्वभाव से ही असुरों से द्वेष रखता है। यह मायावी जैसा चाहे वेष बना लेता है, कहीं कछुआ बन जाता है, कहीं मछली। कहीं सूकर कहीं सिंह। अब ब्राह्मण बन आया है। इस वेष से यह देव-

ताओं का कार्य सिद्ध करना चाहता है। ऐसे यह कपट से हमारे स्वामी का सर्वस्व छीन कर इन्द्र को दे देगा।

दूसरे ने कहा—"हमारे स्वामी तो भोले भाले हैं, इसके छल कपट को समझ ही नहीं सके।"

तीसरे ने कहा—"यदि समझ भी जाते, तो वे क्या करते? युद्ध तो कर ही नहीं सकते क्योंकि यज्ञ में दीक्षित होने वाले को क्रोध करना, अस्त्र शस्त्र उठाना निषेध है यह बौना वामन बन कर यज्ञ में याचना करने आ गया था, इससे वे मना भी नहीं कर सकते थे, क्यों कि महाराज बड़े धर्मात्मा हैं। याचक को वे पराङ मुख नहीं कर सकते। विशेष कर ब्राह्मणों के तो वे बड़े ही भक्त हैं, ब्राह्मणों के लिये तो वे सब कुछ कर सकते हैं। इस कपटी ने इधर उधर की अटपटी दो चार चटपटी बातें बनाकर उनसे प्रतिज्ञा कराली। वे ठहरे सत्यवादी, प्रतिज्ञा का पालन वे प्राणों का प्रण लगा कर भी करेंगे, किन्तु इस बटु ने किया कपट ही है। यज्ञ में दीक्षित महाराज को छल पूर्वक फँसा लिया है। हमारी तो सम्मति है, इस वामन को इसका फल चखा देना चाहिये।

चौथा बोला—"अजी, इसका फल तो यही है कि इसे यम-पुर पठा देना चाहिये। नाक पर बैठकर मक्खी उसमें छेद करती है, तो नाक को ही जड़ मूल से काट देनी चाहिये। जब यह वामन रहेगा ही नहीं, तो फिर कौन दो पग माँगेगा कौन तीन पग?"

पाँचवा बोला—"बन्धुवर! आपने सत्य कहा। इतने दिन से हम स्वामी का नमक खा रहे हैं, उसके पचाने का यही तो

समय है स्वामी जो अन्न वस्त्र देकर सेवक का सदा पालन पोषण करता है, वह समय के लिये ही करता है। उनके ऋण से उऋण होने का यही उत्तम से उत्तम अवसर है, इस बौने को विश्व से विदा करो।"

इस प्रकार वे सब के सब परस्पर में सम्मति करके युद्ध करने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने उत्साह में भर कर अपने अपने अस्त्र शस्त्र उठालिये और वे वामन भगवान् के ऊपर उसी प्रकार शस्त्रों की वर्षा करने लगे, जिस प्रकार मेघ पर्वत के ऊपर वर्षा करते हैं।" यद्यपि वे बलि को प्रसन्न करने और अपनी स्वामिभक्ति दिखाने के लिये ही शूल, पट्टिश आदि लेकर युद्ध कर रहे थे, किन्तु महाराज बलि ऐसा नहीं चाहते थे, उनकी अणु मात्र भी इच्छा नहीं थी, कि वामन वेषधारी द्विज बने विष्णु पर प्रहार किया जाय। वे सब अपने स्वामी के अभिप्राय को बिना जाने ऐसी धृष्टता कर रहे थे। भगवान् के नन्द-सुनन्द, जय विजय तथा अन्यान्य प्रिय पार्षदों ने जब असुरों को युद्ध के लिये आते देखा, तो उन्होंने उनको वामन भगवान् के समीप जाने ही नहीं दिया, बीच में ही रोक लिया। अब तो बलि के अनुचरों में और विष्णु भगवान् के पार्षदों में तनातनी होनी लगी। असुर सेना के प्रबल पराक्रमी सेनापति विप्रचित्ति राहु तथा कालनेमि आदि थे, उधर दश दश हजार हाथियों से भी अधिक बल वाले नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विश्वक्सेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त, तथा सात्वत आदि विष्णु पार्षद थे। इन्होंने असुरों के दांतखट्टे कर किये! बहुतों को मारा, बहुतों को घायल किया बहुत से युद्ध छोड़कर भागने लगे।

महाराज बलि ने जब युद्ध होते देखा तो वे शीघ्रता पूर्वक वहाँ

गये और अपने सेनापतियों को सम्बोधित करके बोले—"ओ, विप्र चित्ते! राहो! भैया! तनिक मेरी बात तो सुनो, तुम लोग यह क्या गड़बड़ घुटाला कर रहो हो। देखो, युद्ध का समय होता है। न कोई निर्बल है न सबल। समय ही कभी किसी को दुर्बल बना देता है, कभी प्रबल कर देता है। जब समय अनुकूल होता है, तो बिना प्रयत्न किये अनायाश कार्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु जब समय प्रतिकूल होता है, तो प्रयत्न करने पर भी परास्त होना पड़ता है। यह समय हमारे अनुकूल नहीं हैं। अतः युद्ध करने से कोई लाभ नहीं?"

विप्रचित्ति क्रोध करके बोला—"प्रभो! हम अपने प्रबल पुरुपार्थ से इन विष्णु पार्षदों को भगा देंगे।"

महाराज बलि ने गम्भीर होकर कहा—"अरे भैया! पुरुपार्थ सब स्थानों में सब समय काम नहीं आता। उसका भी समय होता है। काल ही प्राणियों को सुख दुःखादि पहुँचाने में समर्थ है उस पर कोई भी पुरुप पुरुपार्थ से विजय प्राप्त नहीं कर सकता।' देखा, एक वह भी काल था कि देवता हमारा नाम सुनते ही बिना युद्ध किये डर कर स्वर्ग की समस्त सम्पत्ति छोड़कर भाग गये थे, आज यह भी काल है, कि ये देवता घिरकर मुझे घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। मेरी दशा को देखकर हँस रहे हैं राहु ने कहा—"महाराज! कपटी के साथ कपट करने में कोई दोप नहीं। हम अपने बल पराक्रम से इन्हें न मार सके तो मायावियों से मंत्रणा करके बड़े बड़े बुद्धिमानों की विचित्र बुद्धि की सहायता से इनके साथ माया पूर्वक युद्ध करेंगे। किले के भीतर बैठकर ऊपर से इन्हें मारेंगे। बड़े बड़े अभिचार मन्त्र तन्त्र, जादू, टोना, वालों को बुलाकर उनसे मारण-मोहन उच्चाटन आदि प्रयोग करावेंगे। या इनके भोजन में, जल में

कोई ऐसी ओषधि मिला देंगे, जिससे ये सब बिना युद्ध किये अपने आप ही मर जायँ। अथवा साम-दाम आदि से इन्हें वश में करेंगे।"

बलि ने हँसकर कहा—"भैया! ये सभी उपाय अनुकूल समय होने पर ही सफल होते हैं। प्रतिकूल समय होने पर बल मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, औषधि, तथा साम, दाम, दंड भेदादि कुछ भी काम नहीं आते, सब विफल हो जाते हैं। विधाता की प्रतिकूलता के समय ये सबके सब व्यर्थ बन जाते हैं।"

राहु ने कहा—"अजी, महाराज! ये देवता तथा विष्णु पार्षद हैं क्या? कितनी बार इन्हें हमने युद्ध में हराया है, कितनी बार ये पीठ दिखाकर भागे हैं।"

बलि बोले—"भैया! जब भागे होंगे, तब भागे होंगे। वह समय हमारे अनुकूल था। मैं जानता हूँ तुमने अनेकों बार इन पार्षदों को जीता है, किन्तु आज नहीं जीत सकते। आज कल भगवान् हमारे प्रतिकूल हैं। यदि प्रतिकूल न होते, तो सदा हमारी मन से वचन से और कर्मों से मङ्गल कामना करने वाले हमारे गुरुदेव हमसे प्रतिकूल क्यों हो जाते? हमें ऐश्वर्यहीन होने का शाप क्यों देते? कहाँ वे हमें १०० अश्वमेध यज्ञ कराकर स्थाई इन्द्र बनाने को व्यग्र थे प्रयत्नशील थे। वे ही आज हमें पतन होने का शाप दे रहे हैं। इसलिये भैया, अब युद्ध करना व्यर्थ है। काल की प्रतीक्षा करो। जब हमारा अनुकूल काल आवे, तब युद्ध करना। उस समय फिर तुम्हारी विजय होगी।

असुरों ने कहा—"तब फिर प्रभो! हम क्या करें?"

बलि ने कहा—"भैया, अब तो भगवान् जहाँ रखेंगे वहाँ

रहना है। अब तुम युद्ध मत करो। अब पृथिवी पर भी रहने का हमें अधिकार नहीं है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने सत्य व्रत दृढ़ प्रतिज्ञ ज्ञानी स्वामी की ऐसी सम्मति सुनकर सभी असुर समर से विमुख हो गये। उन दुर्मद दैत्य और दानव यूथ पतियों के शरीर विष्णुपार्षदों के प्रबल प्रहारों से क्षत विक्षत हो रहे थे। उनमें से बहुत से तो उसी समय रसातल को चले गये। बहुत से अपने स्वामी के साथ रह गये।

छप्पय

अरे,असुरगन ! बात सुनो, मति शस्त्र चलाओ।
असमय लखि तुम तुरत लौटि रनतैं सब आओ॥
समय सबल हा करै करै दुर्बल वह भाई।
काल जनित यह विपति, असुर कुलपै अब आई॥
मन्त्र बुद्धि अरु दुर्ग बल, अब न काम कछु करिंगे।
बनि विराट बटु विप्रवर, सरवसु हमरो हरिंगे॥

तृतीय पग के लिये बलि का बन्धन

(५७४)

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम् ।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥
हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतो दिशम् ।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभुविष्णुना ॥⊛

(श्रीभा० ८ स्क० २१ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

सुनिकैं बलि की बात लौटि सुररिपु सब आये ।
बाद विवाद न बढ़ै असुर पाताल पठाये ॥
अच्युत आशय समुझि गरुड़ बलि बाँधे बरबस ।
जगमहँ हाहाकार मच्यौ हरि छीन्यों सरवस ॥
चलित चित्त बलि नहिँ भये, हर्यो विष्णुने भुवन धन ।
लखि लज्जित बलि तैं विहँसि, बटु वामन बोले वचन ॥

बन्धन दुखका कारण है । यदि वह बन्धन सत्य धर्म का बन्धन है, तो उससे एक प्रकार का सुखद आत्मा सन्तोष होता

⊛ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसके पश्चात् विराट् प्रभुकी इच्छा जानकर गरुड़जी ने महाराज बलि को वरुणपाश से बाँध लिया । उस दिन सोमाभिषव का दिन था । प्रभुविष्णु भगवान् विष्णु

है। संसार में यदि सत्यधर्म के कारण जो दुख होता है, यदि वास्तव में वह दुख होता, तो धर्म के लिये युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र, शिवि तथा दधीचि आदि राजर्षि ब्रह्मर्षि इतने दुख क्यों सहते। अवधकुलमण्डल दूर्वादल श्याम भगवान् राम करुणा की ऐसी दुखद सरिता क्यों बहाते। कमल से कोमल अपने नग्न चरणारविन्दों को एक वन से दूसरे वन में पैदल ही घूमकर उन्हें कंटकाविद्ध क्यों बनाते। धर्म के लिये सहन करने वाले कष्ट में भी सुख है, उसमें यश कीर्ति पारलौकिक सुख और सन्तोष सन्निहित है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वामन भगवान् ने विराट् बनकर दो पग में बलि के समस्त लोकों को नाप लिया नापकर पुनः वे वैसे ही बौने बटु बन गये। इधर जब असुर विष्णु पार्षदों से क्रुद्ध होकर युद्ध करने लगे और फिर बलि के कहने से पाताल चले गये, तब बटु भगवान् भिखारी से साहूकार बन गये। उन्होंने आँखों ही-आँखों में विनता नन्दन अपने वाहन गरुड़जी को संकेत कर दिया—"अब इस बलि को वरुण पास में बाँध लो।" गरुड़जी तो पक्षी ही ठहरे उन्हें दया मया कहाँ भगवान् का संकेत पाते ही उन्होंने तुरन्त ही महा यशस्वी परमज्ञानी महाराज बलि को वरुणपास में कस लिया।

विधि की कैसी विडम्बना है, अब तक जो त्रिभुवन का शासक था! जिसके नाम से इन्द्रादि देव थर-थर काँपते थे, जिसके वचन वेद वाक्यों की भाँति माने जाते थे, जिसकी सेवा में सहस्रों सुरसुन्दरियाँ सदा समुपस्थित रहती थीं। आज

द्वारा असुरपति महाराज बलि के बाँधे जाने पर पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र महान् हाहाकार मच गया।

वे ही वरुणपास से बँधे खड़े हैं। उस दिन यज्ञ का सबसे श्रेष्ठ दिवस था। उस दिन देवता, ऋत्विक सदस्यों के साथ यजमान सोमपान करता है। वह सोमाभिषव का दिन पशुयज्ञ तथा सोम यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ दिवस समझा जाता है। आज उसी दिन धर्मात्मा बलि बन्दी बनाये गये। तार्क्ष्य नन्दन गरुड़जी ने उन्हें कसकर बाँध रखा था। यद्यपि वे श्रीहीन हो चुके थे। उनका सर्वस्व छल से हर लिया, फिर भी वे उदारकीर्ति स्थितप्रज्ञ ज्ञानी विरोचनसुत अविचल भाव से खड़े रहे। वामन भगवान् उन्हें शक्ति भर धर्म से विचलित करना चाहा, किन्तु वे विचलित नहीं हुए।

तब हँसकर वामन भगवान् ने कहा—"कहो जी, दानियों में श्रेष्ठ महाराज! आपने मुझे तीन पग पृथिवी का संकल्प किया था न?"

हाथ जोड़े हुए बलि बोले—"प्रभो! मैं मना कब कर रहा हूँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हूँ।

कपटी वामन बोले—"यदि स्थिर हो तो दो भाई अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। जहाँ तक सूर्य का ताप पहुँचता है. जहाँ तक ग्रह, नक्षत्र, तथा चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं। जहाँ तक मेघ वर्षा करते हैं। वहाँ तक की पृथिवी के तुम स्वामी हो अधिपति हो। इसके अन्तर्गत जितने लोक आते हैं, उन सब पर तुम्हारा शासन है। तुमने प्रत्यक्ष ही देखा है, मैंने एक पग में पूरी पृथिवी, शरीर से आकाश और हाथों से दिशायें नाप ली हैं। दूसरे पग से स्वर्गादि समस्त ऊपर के लोक नाप लिये हैं, तुम्हारा समस्त राज्य तो दो पग में ही पूरा हो गया। अब तीसरे के लिये तुम मेरे ऋणी हो। अब मेरा दाता और गृहीता

का सम्बन्ध नहीं है। अब तो मेरे बन्दी हो, मेरा ऋण दे दो, मुझे तीसरे पग के लिये पृथिवी बता दो तब छोड़े जा सकते हो ? या कह दो मैं झूठा हूँ।"

बलि ने कहा—"महाराज ! मैं झूठ तो बोल नहीं रहा हूँ, देने से मना तो करता नहीं।

वामन बोले—"भाई, झूठ क्या है। हमने एक पुरुष से कहा—तुम्हें हम इतनी वस्तु अवश्य देंगे। देते समय उससे कम दी, तो यह झूठ ही है, उसके साथ विश्वासघात करना है। जो प्रतिज्ञा की हुई वस्तु का नहीं देता है, उसे चिरकाल तक नरकों की अग्नि में तपना पड़ता है। या तो तुम मुझे तीसरे पैर के लिये स्थान बताओ, या नरक की वायु खाओ। अपने गुरु से पूछ लो मै झूठ तो नहीं कहता।"

बलि ने कहा—"महाराज ! गुरुजी से क्या पूछ लूँ, वे तो सब पहिले ही बता चुके थे। आपकी सब बातें समझा चुके थे। आपके यथार्थ रूप का दिग्दर्शन करा चुके थे, किन्तु मैंने ही अपनी प्रतिज्ञा से विचलित होना उचित नहीं समझा।"

भगवान् ने व्यंग के स्वर में कहा—"उचित नहीं समझा तो अब भोगो। पहिले तो तुम अभिमान में भरकर अपने को बड़ा श्री सम्पन्न मानते थे। "मैं तीन पग पृथिवी दूँगा अवश्य दूँगा।" यह बार-बार ललकार-ललकार कर कह रहे थे। अब नीचे सिर क्यों किये हो ? अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करो। जो पुरुष याचक से प्रतिज्ञा करके भी उसे उतनी वस्तु प्रदान नहीं करता, उसके साथ विश्वासघात करता है, तो मिथ्या भाषण के दोष के कारण उसे नरक में जाना पड़ता है। आप मुझसे प्रतिज्ञा करके भी उसे पूर्ण नहीं कर रहे हैं, अतः नीचे

के लोकों में तुम्हारा कुछ काल के लिये वास हो। जहाँ पृथिवी के नीचे नरक हैं वहाँ तुम्हारा निवास स्थान हो। "अब तुमने बहुत काल तक स्वर्ग के सुख भोग लिये है। अब तो स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक के समस्त लोकों को तुम मुझे दान ही कर चुके। अब मैं जहाँ तुम्हें स्थान दूँ, वहीं जाकर अपने बन्धु बान्धवों जाति और सुहृदों के साथ रहो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् वामन ने बलि को क्रोध दिलाने को उसकी कठिन परीक्षा लेने के लिये उससे अत्यन्त ही कड़ी-कड़ी बातें कहीं, उन्हें भाँति-भाँति से धिक्कारा, किन्तु इस प्रकार बार-बार तिरस्कृत करने पर भी वे सत्य से अणुमात्र भी नहीं डिगे। स्थिरता पूर्वक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते हुए वे असुरराज महामनस्वी बलि गम्भीर होकर भगवान् की बातों का उत्तर देने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

हे दानिनि महँ श्रेष्ठ! तीनि पग पृथिवी दीन्हीं।
प्रथम पाद तैं स्वर्ग द्वितिय तैं भू सब लीन्हीं॥
तीसर पग के हेतु अवनि कहु अनत बताओ।
करो प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं नरकनि महँ जाओ॥
दान प्रतिज्ञा प्रथम करि, पुनि पूरी जे नहिँ करहिँ।
ते पापी पामर पुरुष, सब नरकनि के दुख सहहिँ॥

महाराज बलि की विनय

(५७५)

यद्युत्तमश्लोक भवानममेरितम्,
वचोऽव्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनम्,
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० २२ अ० २ श्लो०

छप्पय

कनक सरिस बलि बहुत दुसह दुख अनल तपाये ।
परि न व्यथित बलि भये मनस्वी नहिँ घबराये ॥
बोले—हे विश्वेश ! सत्य तैं नहिँ मुख मोरूँ ।
तीनि पैर की करी प्रतिज्ञा ताहि न तोरूँ ॥
तीसर पग मम सिर धरो, बिना बात वटु क्यौं लड़ौ ।
दान वस्तु की अपेक्षा, दाता तो सब विधि बड़ौ ॥

धैर्य की परीक्षा आपत्ति काल में ही होती हैं, वैसे तो स

---

* महाराज बलि भगवान् वामन से कह रहे हैं—"हे उत्तमश्लोक आप मेरे कहे हुए वचनों को मिथ्या मानते हैं तो मैं उसे सत्य करूँगा मैं आपको ठगना नहीं चाहता । हे सुरश्रेष्ठ ! अपने तृतीय पैर को मे सिर पर रखिये ।

अपने को धैर्यवान लगाते हैं, किन्तु घोर संकट आने पर भी ो विचलित नहीं होते, वे ही धीर वीर कहाते हैं। अपमान रने पर भी जिन्हें क्रोध नहीं आता वे ही सहनशील कहलाते ं। एक महात्मा किसी से भिक्षा माँगने गये। उसने उन्हें लाकर कहा—"तू इतना हट्टा कट्टा घूम रहा है, तुझे भीख ांगने में लज्जा नहीं लगती। भाग जा यहाँ से!" यह सुनकर हात्मा लौट गये। उसने फिर बुलाया और कहा—"तेरे बाप यहाँ कमाकर रखा है जो फिर लौट कर आ गया। बिना रिश्रम के व्यर्थ का भोजन मिलता है, खाकर श्मशान के कुत्ते ी भाँति मोटा हो गया है, चल हट।" महात्मा यह सुनकर लौट ़। उसने फिर बुलाया फिर लौटाया। अंत में उस पुरुष ने हात्मा के पैरों पड़ कर कहा—"महात्मा जी आपकी सहन लता धन्य है, जो इतने अपमान को भी निर्विकार होकर सहते ं।"

इस पर महात्मा जी ने कहा—"भैया! मेरी क्या सहन लता है, टुकड़े के लिये तो कुत्ता भी इतनी सहन शीलता रण करता है, सहन शीलता तो महाराज हरिश्चन्द्र है, जो अपना सर्वस्व विश्वामित्र जी को दान देकर गता दक्षिणा के लिये, विश्वामित्र के कोड़े सहते रहे! अपनी णप्रिय पत्नी को दासी बनाकर ब्राह्मण के हाथ बेचा, नन्हें राजकुमार को कुछ द्रव्य लेकर बेच डाला और स्वयं भी ाल के हाथों बिक गये, फिर भी विश्वामित्र की मार आदि ते रहे। एक शब्द भी मुख से नहीं निकाला। याचक को दान र भी उसके दण्ड को सहते रहना यह तो किसी विरले ही काम है। बलि, हरिश्चन्द्र ये ही एक दो संसार में र्श हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वामन वटु ने विरा
रूप बनाकर महाराज बलि का सर्वस्व अपहरण कर लिया। दे
पग में ही उनके समस्त राज्य को नाप लिया। अब एक प
पृथिवी के लिये अड़ गये। लोभ की भी पराकाष्ठा कर दी।
भी नहीं दिखाई कि अब इस पर कुछ नहीं है, तो एक पग
लिये इसे क्षमा ही कर दें। उन्हें तो इनको तपाना था,
निर्मल सुवर्ण बनाना था। गरुड़जी से इन्हें बँधवा लिया।
न कहने योग्य वचन कह कर उनका तिरस्कार किया।
कहलाने का बड़ा प्रयत्न कराया कि बलि स्वयं कह दे—"महाराज
अब मेरे पास कुछ नहीं है, मैं क्या करूँ?"

महाराज बलि तो धीर, वीर, ज्ञानी, यशस्वी, मनस्वी औ
स्थिरप्रज्ञ थे। अतः वे वामन की ऐसी बेतुकी बातें सुनकर भ
विचलित नहीं हुए। उनकी बातों का उत्तर देते हुए बोले—
"महाराज! आपकी पवित्र कीर्ति तो विश्वब्रह्मांड में व्याप्त है
विष्णु बनकर आपने क्या क्या कौतुक नहीं किये हैं? कै
कैसे विचित्रवेष आपने बनाये हैं। संसार जानता है आ
यश को। आप बने तो इन्द्र के छोटे भाई हैं, किन्तु हैं स
देवताओं में बड़े। आप मुझ से बार बार यह क्यों कहला
चाहते हैं, कि मैंने तीन पग पृथिवी देने का वचन नहीं दिय
मैं डंके की चोट पर कहता हूँ, मैंने तीन पग पृथिवी के ि
कहा है, कहा है, कहा है। उसे दूँगा, अवश्य दूँगा अविल
दूँगा।

वामन वटु सूखी हँसी हँसकर बोले—"अब कहाँ से दो
जी? जहाँ तक तुम्हारा राज्य था, जितनी भूमि तुम्हारे अधिक
में थी, उस भूमि पर जितना धन धान्य था, वह सब तो मै

हो गया। अब तुम तीसरे पग के लिये ब्रह्मांड से बाहर कहाँ पृथिवी बनाओगे ?"

बलि ने कहा—"देखिये, महाराज, ! एक तो दाता होता है, एक दान की वस्तु होती है। हम गौदान करते हैं, तो गौदान के साथ यह तो नहीं है कि अपने को दान कर दें। मैंने अपनी पृथिवी ही दान की है, मैं स्वयं तो अभी शेप हूँ। तीसरे पग को मेरे सिर पर रख कर मुझे भी नाप लो।" मुझे अपना क्रीत दास बना लो।

वामन हंसे और बोले—"बड़े दीनता के वचन कह रहे हो बलि महाराज ! डर गये क्या ?"

दृढ़ता के स्वर में महाराज बलि बोले—"भगवन् ! आप डरने की बात कह रहे हैं ? आप जो मुझे बार बार नरक की धमकी दे रहे हैं; उस नरक से मुझे तनिक भी डर नहीं है। मेरे लिये नरक स्वर्ग सब समान है, आप कह रहे हैं—'तू राजा नहीं रहा, राजा नहीं रहे ?" न रहूँ राजा। राजा के कौन से पंख होते हैं। जितना साधारण पुरुष खाते हैं। उतना ही राजा खाता है, वह भी अन्य पुरुषों की भाँति वस्त्रों से तन ढकता है। उसे उठाने को जो भेरी बजाई जाती हैं, उसे सभी सुनते हैं। एक दिन मैं राज्यच्युत होकर गदहा बनकर भी घूमा था, तब इन्द्र मुझे देखकर हँसता था। आज इन्द्र भी वैसे ही घूम रहा है। यह राज्यपद तो रथ के चक्र के सामान ऊपर नीचे होता रहता है, अतः मुझे पदच्युति पर तनिक भी दुःख नहीं। आपने मुझे गरुड़ जी के द्वारा वरुण पासों में बँधवा लिया है, इससे मेरा क्या बिगड़ गया। आप कह रहे हैं—"मैं तेरा सर्वस्व हरलूँगा,

तुझे दुस्तर दुःख दूँगा। दुसह दण्ड देकर तुझे नरक में भेजूँगा। भेज दो, तुम्हारी इच्छा। इन सब बातों से मैं डरने वाला नहीं, डर मुझे इसी बात का है कि लोग यह न कहें कि प्रह्लाद जी पौत्र ने वटु वामन को तीन पग भूमि का संकल्प करके उसे नहीं किया। ब्राह्मण के सम्बन्ध से हुई अपकीर्ति का ही मुझे भय है।

भीतर ही भीतर प्रसन्न होते हुए ऊपर से रुखाई के साथ वामन बोले—"दैत्यराज ! मैं आपका ऐश्वर्य नाश करके ही शान्त न रहूँगा, तुम्हें दान पूरा न करने पर कठिन से कठिन दंड भी दूँगा।

हँसकर बलि बोले—"फिर महाराज ! कह क्या रहे हो ! सुनाते क्या हो। देते क्यों नहीं हो दंड। मैं तो आपके दंड को पाकर हे अशरण शरण ! अपना अहो भाग्य समझूँगा। आप जैसे पूज्यतमों के द्वारा दंड प्राप्त होना यह तो बड़े सौभाग्य की बात है, हे विश्वम्भर ! बड़े लोगों द्वारा दंड तो भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होता है। पापी सहनशील और असदाचारी पुरुष तो गुरुजनों के दंड से वंचित रह जाते हैं। मोह के कारण माता पिता, भाई तथा सुहृद् भी यथेष्ट दण्ड नहीं देते। सदा हित की ही कांक्षा करने वाले सब भाँति की विद्या सिखाने वाले, परमार्थ पथ को बताने वाले गुरु ही यथार्थ दण्ड देते हैं। आप हम असुरों के गुरु ही नहीं परमगुरु हैं।"

वामन भगवान् बोले—"गुरु तो तुम्हारे शुक्राचार्य हैं। मैंने कब भैया ! तुम्हें दीक्षा दी ?

हँसकर बलि बोले—"महाराज ! कान में दीक्षा देने से ही गुरु थोड़े ही होता है। जैसे दीक्षागुरु होते हैं, वैसे शिक्षागुरु भी तो होते हैं। आपने हमें प्रत्यक्ष रूप से भले ही दीक्षा

दी हो, किन्तु परोक्ष रूप से तो निश्चय ही आप हम सब असुरों के परमगुरु हैं।

भगवान् ने कहा—"गुरु का काम जीवनदान करना है या मार डालना ?"

वलि बोले—"हे परमगुरो ! आप मारकर भी जीवन ही दान देते हैं। आपका क्रोध भी वरदान के ही तुल्य है। आप हमारा ऐश्वर्य नाश भी हमारे हित के ही निमित्त करते हैं। अनेक प्रकार के मदों से मदोन्मत्त हुए असुर गण अभिमान के कारण अन्धे हो जाते हैं। आप ऐश्वर्यनाश रूपी अञ्जन को लगाकर हमें प्रकाश प्रदान करते हैं। हमारी बुद्धि को यथा स्थान लगाते हैं। जिन दैत्यों ने आपके साथ वैर बाँधा उन्होंने भी संसार मे प्रसिद्धि प्राप्त की और आपके हाथों से मरकर उस दुर्लभ परमपद को प्राप्त हुए, जिसे सहस्रों वर्ष तक घोर योग तप करके योगी तपस्वी सुलभता से नहीं प्राप्त कर सकते। अतः आपसे वैर बाँधने पर भी असुरों का कल्याण ही है। जीतने पर राज्य और मरने पर मोक्ष। छोटों के द्वारा सम्मान प्राप्त करना भी श्रेष्ठ नहीं। बड़ों से पराजित होना अपमानित होना भी उत्तम है, अतः मुझे न तो आपके द्वारा बाँधे जाने पर विशेष लज्जा ही है और न सर्वस्व अपहरण कर लेने पर दुःख ही। कोई बाहर का होता तो लज्जा की भी बात थी, आप तो मेरे सगे सम्बन्धी हैं।"

हँस कर बटु वामन बोले—"मेरा तुम्हारा क्या सम्बन्ध है भाई ?"

बलि ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"मेरा आप का तो बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है भगवन् ! मेरे पितामह

श्लोक प्रह्लाद जो आपके निज जन हैं, प्रिय पार्षद हैं। उनके आप स्वामी हैं तो मेरे तो स्वामी के भी स्वामी हैं, पूज्य के भी पूजनीय हैं। उनकी कीर्ति आज संसार में इसीलिये व्याप्त है कि उन्होंने आपके चरणारविन्दों का आश्रय लिया था।"

भगवान् ने कहा—"वे तो भगवद् भक्ति करके अपने पिता से पृथक् हो गये। नरहरि ने उनके पिता को मार डाला था? स्वजनों का वियोग होना क्या यही भक्ति का फल है?"

बलि ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"प्रभो! आपके चारु चरणों से संयोग हो जाय, फिर स्वजन वियोग क्या वस्तु है मेरे पितामह तो परम ज्ञानी थे उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इन स्वजनों के रूप में डाकुओं से मेरा कुछ न होगा। स्वजन क्या करते हैं। हमारा इहलौकिक धन हरते हैं मोह बढ़ा कर परलोक का नाश करते हैं। संसार में पुनः पुनः फँसाते हैं। जिसका स्मरण करके प्राण छोड़ेंगे, उसी के यहाँ जन्म लेना पड़ेगा। ये स्वजन परिवार वाले तो परमार्थ के शत्रु हैं। जिस भार्या को प्राणों से भी अधिक प्रियतमा मानते हैं वह जन्म-मरण रूप संसार चक्र की हेतुभूता है। जिसकी मृत्यु निरंतर सिर पर नृत्य करती रहती है उस पुरुष का ये सांसारिक सम्बन्धी क्या कल्याण कर सकते हैं?" यही सब सोचकर मेरे पूज्यनीय पितामह ने आप परमात्मा के पुनीत पादपद्मों का आश्रय ग्रहण किया था आपके अनुचर होकर वे असुरवर अमर हो गये, उनकी कीर्ति अक्षुण्ण हो गई। उसी प्रकार मैं भी आपके अरुण चरणों की शरण लेकर इस भवसागर को पार हो जाऊँगा। आपके अनेकों प्रिय पार्षदों में मुझ अकिंचन की भी गणना हो जायगी। मेरा तो आपने कल्याण ही किया।

वामन बोले—"कल्याण क्या किया, मैंने तुम्हें धन वैभव से बलपूर्वक वंचित करके भिखारी बना दिया।

बलि ने निस्पृहता के स्वर में कहा—"प्रभो ! इन सांसारिक धन वैभवों में रखा ही क्या है, इन्हें पाकर तो जीव मदोन्मत्त हो जाता है, अन्त में इन सब को यहीं त्यागकर मृत्यु के मुख में चला जाता है। अतः हे देव ! आप चाहे मेरे शत्रु ही बन कर आयें, किन्तु आप मेरे परम मित्र हैं। भाग्य से ही मुझे आपके देव दुर्लभ दर्शन हुए। अब मेरा संसार चक्र सदा के लिये छूट जायगा। अब मुझे ८४ के चक्कर में न भटकना पड़ेगा। अब तो मैं समस्त आधि व्याधियों से विमुक्त हो गया। मेरा उद्धार हो गया, आपने कृपा करके मुझे कृतार्थ कर दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज बलि वामन भगवान् के सम्मुख इस प्रकार विनय के बचन बोल ही रहे थे, कि वैकुंठ से उनके पितामह महाभागवत प्रह्लाद जी अपने पौत्र को देखने और बटु वामन के दर्शन करने वहाँ आकर उपस्थित हुए।

छप्पय

हे हरि माता पिता सुहृद सर्वस्व हमारे।
पकरि पितामह तरे, पौत पद पद्म तिहारे॥
बन्धन तैं नहिं डरौं नरकतैं भय नहिँ प्रभुवर।
स्वामी देवै दंड होहि सेवककूँ सुखकर॥
बैर भाव हैं भक्ति करि, तरे असंख्यों असुरगन।
जग सुख भोग्यो अंत महँ, लह्यो परम पद त्यागि तन॥

प्रह्लादजी का शुभागमन

(५७६)

तस्येत्थं भापमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥❀
(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

बलि वामन बतराईँ भये प्रहलाद उदित रवि ।
अरुन नयन पटपीत कृष्ण तनु अति मनहर छवि ॥
निरखि पितामह नेह नीर बलि नयननि छायो ।
पूजा कैसे करहिं बँधे ही शीश नवायो ॥
बलि सिकुरयो संकोचवश, वामन हरि सम्मुख खरे।
पुलकित तनु प्रहलाद जी, ह्वै प्रसन्न प्रभु पग परे ॥

बन्धु वह कहलाता है, जो हमारे सुख-दुख में उन्नति-अव-
नति में साथ रहे। अपने कुल में उत्सव, मङ्गल अभ्युद
से कुल परिवार वालों को बड़ा हर्ष होता है। इसी प्र
में कोई दुखद घटना घट जाने पर दुख भी होता है
सुख-दुख में भली भाँति हम बँधे हों, यही सम्बन्ध

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलि इस प्रकार कह
ही रहे थे कि इतने में परम भागवत प्रह्लादजी वहाँ आ गये। सहसा
पे चन्द्रमा के समान उदित हो गये।"

है । सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक देह सम्बन्ध दूसरा पारमार्थिक सम्बन्ध, देह सम्बन्ध तो माता-पिता के सम्बन्ध से । हमारी देह माता और पिता दोनों के रजवीर्य से बनी है, अतः माता के सम्बन्धी नाना नानी, मामा मामी, मौसी मौसा तथा इन सब के बाल बच्चे तथा सम्बन्धी भी सम्बन्धी कहाते हैं । इसी प्रकार पिता के सम्बन्ध से दादा, दादी, भाई भाभी बहिन बहनोई तथा बाल बच्चे और सम्बन्धी भी परिवार कुटुम्बी होते हैं। अपने देह से जिनका सम्बन्ध है जैसे स्त्री, पुत्र पौत्र आदि इस प्रकार तीन प्रकार से देह सम्बन्ध होता है। परमार्थिक सम्बन्ध भगवान् अथवा गुरु के सम्बन्ध से होता है। जो भगवद् भक्त हैं, वे हमारे सगे सम्बन्धी हैं, जिनसे हमने शिक्षा दीक्षा ग्रहण की है, उन्हींसे जिन्होंने ग्रहण की है, वे भी हमारे पारमार्थिक सम्बन्धी हैं भगवद्भक्त तथा ज्ञानी जन सांसारिक समस्त सम्बन्धों से मुख मोड़कर भगवद् भक्तों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। जो भगवान् का भक्त है, वह किसी देश, किसी जाति, किसी वर्ण तथा किसी भी रंग रूप का हो वह अपना सगा है, सम्बन्धी है, सुहृद् है, सखा है, आत्मीय है। इसके विपरीत जो भक्त नहीं, वह चाहे अपना पुत्र ही क्यों न हो उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं । यदि पहिले जिससे अपना कोई देह का भी सम्बन्ध रहा हो और वह भगवद्-भक्त भी हो, तब तो एक और एक मिलकर ११ हो जाते हैं। सोने में सुगन्ध हो जाती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभागवत विष्णु पार्षद श्री प्रह्लादजी ने जब सुना कि मेरे पौत्र के ऊपर भी प्रभु ने कृपा की है। उसे भी अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ किया है। उसके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त भगवान् वटु से विराट

बने हैं, तो वे भी भगवान् के दर्शन करने और अपने पौत्र के सौभाग्य की प्रशंसा करने सहसा वैकुण्ठ लोक से वहाँ आये। उनके आने की कोई संभावना नहीं थी। वे उसी प्रकार उदित हुए, जिस प्रकार गगन मंडल में शीतरश्मि भगवान् निशानाथ पूर्णिमा के दिन उदित होते हैं। प्रह्लादजी तो विष्णु पार्षद ही ठहरे, उनकी शोभा का क्या वर्णन किया जाय। वे अपनी उन्नत, सुचिक्कण कमनीय काय पर सुन्दर स्वच्छ, शोभायुक्त शारदीय सुषमा के समान मनहर पीताम्बर पहिने हुए थे। कृष्ण कान्त मणि के समान देदीप्यमान उनकी विशिष्ट श्याम वर्ण की कान्ति थी। उनके विशाल बाहुओं में विष्णु पार्षदों के समस्त अस्त्र विराजमान थे। कमल के समान खिली हुई बड़ी बड़ी आँखों से वे इस प्रकार निहार रहे थे, मानों अपनी सरस चितवन से दशों दिशाओं को रसमयी बना देंगे। उनका दमदमाता हुआ श्री सम्पन्न मुख मंडल चन्द्रमा के समान खिल रहा था, जिसमें मन्दमन्द मुसकान रूपी किरणें छिटक रही थीं।

पहिले जब कभी प्रह्लाद जी अपने पौत्र के पास पधारते थे, तो वे प्रेम पूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ उनकी षोड्शोपचार पूजा करते थे, किन्तु आज तो वे वरुणपास से बँधे हुए थे। इस दशा में पूजा कैसे करें। सदा तो वे श्री सम्पन्न सुवर्ण राज सिंहासन पर पितामह को बिठाकर उनकी पूजा करके उन्हें प्रणाम करते थे, किन्तु आज तो उनके पास अपना कहने को कुछ था ही नहीं। वामन बटु ने सर्वस्व छीन लिया था। इसीलिये उन्हें अपनी विवशता पर बड़ी लज्जा आई। स्नेह, लज्जा और संकोच के कारण उनकी आँखें अश्रुओं से पूर्ण हो गईं। डबडबाई आँखों से बँधे ही बँधे उन्होंने अपने पूज्य पितामह को केवल प्रणाम मात्र ही किया।

इस समय प्रह्लादजी के सम्मुख उनके पौत्र भी थे और
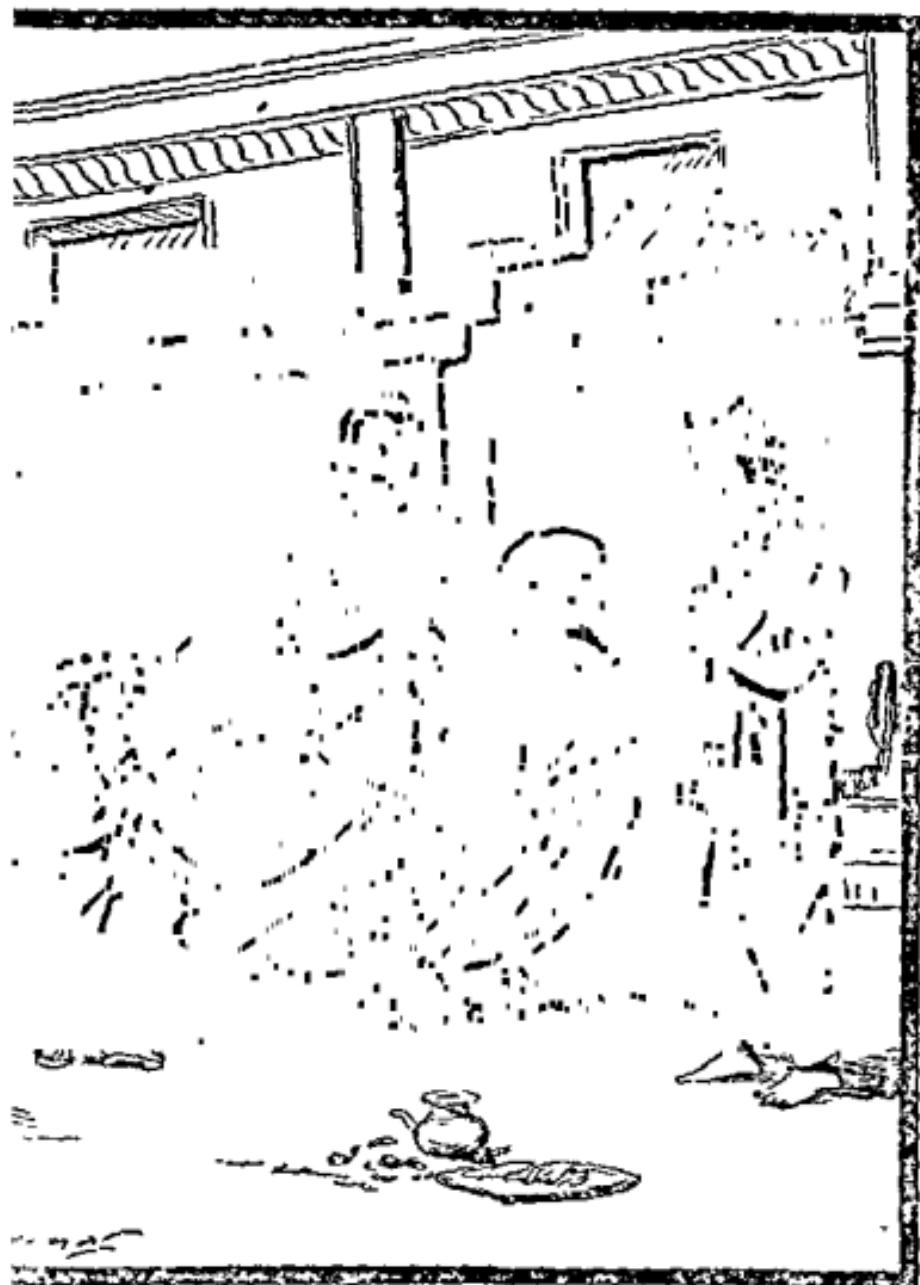
के सर्वस्व स्वामी भी थे, अतः शीघ्रता के साथ प्रेम से पुल-

कायमान शरीर से नेत्रों मे जलभर कर विह्वल होकर प्रभु के पादपद्मों मे पृथिवी पर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे।

अब उनके सम्मुख दो कार्य थे, एक तो अपने पौत्र को सान्त्वना देते हुए उपदेश करना था, दूसरे भगवान् की स्तुति भी करनी थी। अतः अपने पौत्र को सुनाते हुए भगवान् की भक्त वत्सलता की प्रशंसा करने लगे। श्री प्रह्लादजी बोले—"भगवन! इस बलि को यह अभिमान है, कि मैंने भगवान् को अपना सर्वस्व दान कर दिया, तो इसका यह अभिमान व्यर्थ है। इसे इन्द्र पद आपने ही तो प्रदान किया था। आपने न्यास रूप में अपनी विशिष्ट शक्ति देकर इसे इन्द्र बनाया था, अब इसे अयोग्य समझ कर आपने हर लिया। इसे ऐश्वर्यशाली इन्द्र पद से पृथक् कर दिया, तो इस विषय मे इसे लज्जित होने की तो कोई आवश्यकता नहीं। आपने तो इसके ऊपर अनुग्रह ही की इसे मोह में फंसाने वाली राज्य लक्ष्मी से भ्रष्ट कर दिया। यह राजलक्ष्मी आँखें रहते हुए भी मनुष्य को अन्धा बना देती है। बिना मद्पान किये मदोन्मत्त कर देती है, ज्ञानी को भी अज्ञानी और सावधान को भी प्रमादी बना देती है। बड़े बड़े विद्वान पुरुप भी इस माया के चक्कर में फँसकर मोहित हो जाते है। ऐसी लक्ष्मी से रहित करके आपने इस अपने अनुचर पर अत्यन्त ही अनुग्रह की ऐसे अनुग्रहावतार, भक्तवत्सल आप वामन भगवान् के पाद पद्मों में मेरी पुनः पुनः प्रणाम है।

श्री शुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लाद जी के आने से अब तो वहाँ बड़ा समारोह हो गया। श्री वामन भगवान् अपने नन्द सुनन्दादि पार्षदों से घिरे हुए बैठे थे, एक ओर समस्त देवगण विराजमान थे, उन सबके आगे, लोक पितामह

ब्रह्मा बैठे थे। महाराज बलि के प्रधान प्रधान सेना नायक असुर भी उदास मन से नीचा सिर किये चुपचाप बैठे थे। महाराज बलि के समीप ही हाथ जोड़े भगवद्भक्त श्रीप्रह्लादजी विराजमान थे। देवता और असुरों का सम्मिलित समारोह था सत्ता हस्तान्तरित होने के लोभ से देवता प्रसन्न थे। असुरों के मन में दुःख था। महामनस्वी परमज्ञानी बलि के मनमें न दुःख था न सुख वे समयाभाव से बैठे प्रभु के पाद-पद्मों को निहार रहे थे। और पुलकित हृदय से प्रेम के अश्रु बहा रहे थे। भगवत् दर्शनों से उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी। प्रह्लादजीकी स्तुति करते सुनकर ब्रह्माजी का भी साहस बँधा, वे भी भगवान् की स्तुति करने को खड़े हुए।

अपने ददिया ससुर प्रह्लादजी को देखकर रानी विन्ध्यावली ने घूँघट मार लिया था। ससुर के सम्मुख बोलना तो सदाचार के विरुद्ध है। किन्तु भगवान् तो सबके माता पिता हैं। उनसे क्या लज्जा। अतः वे भी तनिक घूँघट को सरकाकर प्रह्लादजी की ओर मुँह छिपाकर भगवान् की ओर देखती हुई बोलीं। उन्होंने यह नहीं देखा कि लोकपितामह ब्रह्माजी कुछ कहने को खड़े हैं। ब्रह्माजी ने जब देखा कि विन्ध्यावली महारानी कुछ कहना चाहती हैं, तो वे बिना कुछ कहे चुपचाप बैठ गये। ऐसा प्राचीन सदाचार है, कि स्त्री आरही हो, तो सामने से स्वयं हट जाना चाहिये। वाहन पर पहिले स्त्री को चढ़ाकर तब चढ़ना चाहिये। सब स्थानों में लज्जावती स्त्रियों का सम्मान करना चाहिये। क्योंकि वे स्त्रीसुलभ शीलता के कारण न कुछ वस्तु स्वयं माँग सकती हैं, न किसी बात पर बल देकर कह सकती हैं। लज्जा ही उनका धन है, शील ही उनका शृङ्गार है उनकी रक्षा करना; आदर करना यह मनुष्य का परमधर्म है।

जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, उनकी पूजा होती है, वहाँ लक्ष्मी का वास होता है। ब्रह्माजी कब उठे कब बैठ गये इसका विन्ध्यावली को पता ही नहीं। वे तो अपने पति को वरुणपाश में बँधा देखकर तथा लज्जा से अवनत सिर निहार कर, भय से व्याकुल हुई अत्यंत विनय के साथ कहने लगी—प्रभो ! इस अखिलजगत् के एकमात्र आप ही अधीश्वर हैं। किसी अन्य कारण से नहीं केवल क्रीड़ा के निमित्त आपने इस जगत् की रचना की है। जब इच्छा होती है, इस त्रिगुणात्मक जगत् को बना लेते हैं, जब इच्छा होती है, उसको लेकर खेलते हैं, जब खेलते खेलते ऊब जाते हैं, फट्ट से इसे फोड़ देते हैं। संहार कर देते हैं जैसे बनाना खेल है, वैसे ही फोड़ देना आपका खेल है। न बनाने में आसक्ति न फोड़ देने में चिन्ता। अपने खेल के लिये बनाये हुए जगत् में जो ममता करता है, उसे अपना बताता है, अपने को उसका स्वामी समझता है, वह तो भूला हुआ प्राणी है। मेरे प्राणपति यदि मन से यह अनुभव करते हैं, कि तीन लोकों का मैं स्वामी हूँ, यह राज्य पाट मेरा है और इसे मैं वामन प्रभु को दान दे रहा हूँ; तो प्रभु मैं तो इसे उनकी भूल ही कहूँगी। भला, आप सब को देने वाले को कौन क्या दे सकता है। कुछ अपना हो तो दे भी सबके स्वामी तो आप सर्वेश्वर ही हैं। जब सब आपकी ही वस्तु है, तो फिर कोई अन्य किसी को क्या है समर्पण करेगा ?" अतः मेरे पति ने न आपको कुछ दिया है न दे सकते हैं। सब आपकी वस्तु ही है। सबके स्वामी आप ही हैं आप अपनी वस्तु को सम्हालें। मेरे पति की इस बात पर ध्यान न दें कि मैं आपको दूँगा। आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। आप पूर्ण काम को इच्छा हो ही क्या सकती है।"

इतना कहकर विन्ध्यावली बैठ गई। तब ब्रह्माजी फिर उठे और बोले—"हे देव देव! हे भूतभावन भूतेश्वर! देखिये, बलि को बाँधना आपके अनुरूप नहीं है। इसने आपका क्या अपराध किया है? किस अभियोग के कारण इसे बन्दी बनाया गया है। इसने तो आपको अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। यह दंड पात्र न होकर आपकी कृपा का पात्र होने योग्य है। हे दयालो! इस दुखी दीन दैत्य पर दया करो। इसे अपने चरणों की शरण दो। देखिये, एक अंगुल पृथिवी देने में ही चित्त में दुःख होने लगता है, इसने तो अपनी सम्पूर्ण पृथिवी स्वेच्छा से प्रेम पूर्वक बिना मनमलिन किये आपको देदी है। पुण्यों से उपार्जित स्वर्गादि समस्त लोक स्वेच्छा से आपको द्वितीय पद नपाने को दिये हैं। तृतीय पद के लिये इन्होंने अपना मस्तक नत कर दिया है, शरीर समर्पण कर दिया है। फिर आप इसे बाँध क्यों रहे हैं। इसे कष्ट देने का प्रयत्न क्यों करा रहे हैं। इसने तो आपके चरणामृत को श्रद्धा सहित सिर पर धारण किया है। यह तो पुण्यश्लोक पुण्यात्मा पुरुष है। पापी पुरुष भी आपके पादोदक का पान कर परम पुण्य के भागी बन जाते हैं। तो फिर इसके अशुभ शेष कहाँ रहे। आपके चरणों में श्रद्धा सहित, एक चुल्लू जल, एक तुलसीदल अथवा एक दूब का अंकुर चढ़ाने वाला इस संसार सागर से विमुक्त हो जाता है, फिर तो सर्वस्व समर्पित करने वाला साधु श्रेष्ठ बलि बंधन में क्यों पड़े?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लोकपितामह के ऐसे सुन्दर वचन सुनकर वामन भगवान् उनका हँसते हुए उत्तर देने लगे।

छप्पय

पुनि बोले प्रह्लाद प्रभो यह अति भल कीन्हों ।
दयो इन्द्रपद आपु आपु ही पुनि हरि लीन्हों ।।
धन वैभव में कहा होहि तव चरननि महँ रति ।
धन मद महँ मदमत्त करैं नर अघ अति नित प्रति ।।
बिनती करि प्रह्लाद जी, पुनि कीयो चरननि नमन ।
तब विन्ध्यावलि बलिप्रिया, विनय सहित बोली बचन ।।

धनिक नध के पीछे प्रभुका भी अपमान करता है।

(५७७)

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २२ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

कर्ता भर्ता और जगत के हर्ता तुम हरि।
अज्ञ सहैं दुख व्यर्थ राज धन महँ ममता करि॥
का हम दीयो देव आप अपनो स्वीकारयो।
यों कहि बैठी सती फेरि विधि वचन उचारयो॥
विधि बोले—विश्वेश विभु, बलि सरबसु अरपन कियो।
फिर उदार यश असुर कूँ, बन्धन करि क्यौं दुख दियो॥

स्वार्थ की हानि का नाम विपत्ति है और स्वार्थ सिद्धि का

---

*श्री वामन भगवान् श्री ब्रह्मा जी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! जिसे मैं अपनाता हूँ उसका धन हरण कर लेता हूँ। क्योंकि धन के मद में उन्मत्त हुआ पुरुष सब लोगों का तथा मेरा भी अपमान करने लगता है।"

नाम सम्पति है। संसार में सब से बड़ा स्वार्थ श्री हरि के पादपद्मों की प्राप्ति ही है। श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ धन हैं, जिसने श्री हरि को भुला दिया वही सबसे बड़ा निर्धन है, जिसके हृदय में सदा हरिस्मृति जाग्रत है, वही सबसे श्रेष्ठ धनवान है। भोग्य वस्तुओं का न मिलना, इस नाशवान् शरीर में नाना रोग, विविध पीड़ाओं का होना, अनित्य सम्बन्ध वाले, स्वजन कहलाने वाले पुरुषों का वियोग होना, ये सब विपत्ति नहीं हैं। सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है, कि हृदय से श्री हरि के पाद पद्मों का विस्मरण हो जाना। जिसके पास नारायण स्मृति रूपी सम्पत्ति है, वह निर्धन होने पर भी धनी है, नीच होने पर भी श्रेष्ठ है, छोटा होने पर भी ज्येष्ठ है। जो नारायण स्मृति से शून्य है, धनी भी निर्धन है, भाग्यशाली भी अभागा है, ऐश्वर्य शाली होने पर भी दरिद्र है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी ने वामन भगवान् से बलि को छोड़ देने के लिये प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! बलि को मैं कष्ट नहीं दे रहा हूँ, उसके ऊपर कृपा कर रहा हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भगवन्! ऐसी क्या कृपा? आपने इसका सर्वस्व अपहरण कर लिया है, तीनों लोकों का राज्य छीन लिया है, छल से वामन बनकर दान माँगा और विराट् बन कर दान की पृथ्वी को नापा। तिस पर भी आपने इन यशस्वी असुराधिपको वरुण पाश में बाँध लिया है, सब के सम्मुख भरी सभा में अपमान कर रहे हैं, इससे अधिक कष्ट और क्या होगा।"

इस पर भगवान् बोले—"ब्रह्मन्! धन ऐसी प्रबल माया

है, कि मनुष्य धन के मद में होकर सब लोगों का यहाँ तक कि मेरा भी अपमान करता है। लक्ष्मीवान् पुरुष नारायण को भी कुछ नहीं समझते। धनी पुरुष कभी किसी से प्रेम नहीं कर सकता। जिसका इन सोने चाँदी तथा कागज के जड़ टुकड़ों से मोह है, चैतन्य से कैसे प्रेम कर सकता है। उसका प्रेम स्वार्थ का होता है। वह धन को सर्वस्व समझता है, इसीलिये निर्धनों का सदा अपमान करता है।"

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मी जी तो श्रीमन्नारायण की सहचरी हैं; जिन भाग्यवानों के समीप लक्ष्मी हैं; वे ऐसे क्रूर क्यों हो जाते हैं? वे भगवान् की अवहेलना क्यों करते हैं?"

यह सुनकर सूतजी गंभीर होगये और बोले—"भगवन्! लक्ष्मी जी के दो स्वरूप हैं एक विष्णुवल्लभा रूप है, जो स्वयं साक्षात् अपने चैतन्य रूप से श्रीहरि के वक्षःस्थल में क्रीड़ा करती रहती हैं, एक उनका धन रूप है जो जड़ रूप से संसार में व्याप्त है इस धन के रूप में रहने वाली लक्ष्मी में बड़ा मद है, अत्यधिक आकर्षण है। संसार में चार काम अत्यन्त निन्दित बताये हैं। अधर्मपूर्वक द्यूत, अधर्म पूर्वक सुरापान, अधर्म पूर्वक मैथुन और अधर्म पूर्वक हिंसा। इन चारोंसे बढ़ कर कोई पाप नहीं। जूए में कोई विशेष दोष नहीं है, किन्तु इसमें एक बड़ा दोष है, कि जुआरी सत्य का पालन नहीं कर सकता। उसे झूठ बोलना ही पड़ेगा। असत्य ही सब पापों का मूल है। सुरापान में एक ही दोष है उससे मद होता है, मनुष्य मदिरा के मद में अंड संड बकता रहता है। अपने आपेको भूल जाता है। मैथुन में यही सबसे बड़ा दोष है, कि उससे काम तृष्णा अधिक बढ़ती है तृप्ति नहीं होती.

उपभोग से अधिकाधिक इच्छा प्रबल होती जाती है। शरीर को पुष्ट करने से, माँस के लिये प्राणियों का वध करने कराने से रजोगुण बढ़ता है। मांसाहारी पुरुष सात्विक नहीं रह सकता।

द्यूत, मदिरापान, कामिनी सेवन और हिंसा इन चारों व्यसनों में क्रम से झूठ, मद, काम, और रजोगुण ये एक एक दोष हैं, किन्तु ये चारों दोष एकत्रित धन में हैं इन चारों से भी एक अधिक सब से *बड़ा दोष धन में और है, वह यह* कि धनी पुरुष मन ही मन सब पर संदेह करता है, लोग भी उससे वैर करने लगते हैं।

धनी पुरुष धनको एकत्रित करने में सत्य की रक्षा नहीं कर सकता। उसका उद्देश्य तो धनोपार्जन है, यदि असत्य बोलकर धन मिल जाय, तो वह असत्य भाषण में कभी न चूकेगा। लक्ष्मी का विशेष वास व्यापार मे और व्यापार को कहा है "सत्यानृत" अर्थात् जिसमें सत्य झूठ दोनों ही छिपे रहें। व्यापारियों में कोई विरला ही सत्यवादी मिलेगा। इसी प्रकार धनी पुरुष प्रायः सुरापी कामी और हिंसक होते हैं। वे किसी से हृदय खोलकर प्रेम नहीं कर सकते। उनके प्रेम में स्वार्थ छिपा रहेगा, उनके दान में कीर्ति *की वासना* छिपी रहेगी, यह भावना भी रहेगी, कि इस मेरे दान को १० आदमी जाने, जिससे मेरा व्यपार बढ़े। उनका दान विज्ञापन के लिये है। साधु पुरुषों के समीप भी जायँगे, तो इसी आशा से कि एक रुपये के फल चढ़ादें, हमें लाख रुपये मिल जायँ। इतने दिन के साधु के किए जप तप को पैर छूकर-एक दिन भोजन कराकर ले लें। उनकी श्रद्धा उन्हीं

साधुओं पर होगी, जो पैसा न लेते होंगे। केवल पैर छूने पर ही धन धान्य, पुत्र पौत्रों का आशीर्वाद दे दें। उनके सम्मुख जाकर वे अपनी उदारता प्रकट करते हैं।

एक महात्मा थे, वे किसी से कुछ लेते नहीं थे, जो कुछ कोई चढ़ाता, उसे वे उसी को लौटा देते। एक दिन एक सेठ जी आये। उन्होंने सोचा—"महात्मा जी कुछ लेते तो हैं ही नहीं। लौटा देते हैं, फिर क्यों नहीं मैं अपनी उदारता प्रकट करदूँ।" यह सोचकर उन्होंने दश सहस्र रुपये की थैली महात्मा जी को भेंट की। भेंट करते ही वे इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि महात्मा जी कहदें—"अरे, भाई! यह क्या करते हो उठा लो इसे, हम क्या करेंगे।" किन्तु आज महात्मा जी तो बोले ही नहीं। सेठ जी ने कई बार संकेत किया "महाराज दास की तुच्छ भेंट स्वीकार की जाय।" कुछ काल चुप रहकर महात्मा जी अपने शिष्य से बोले—"गोपाल दास! भैया, इस थैली को उठाकर कुटिया में रखो, कल साधु महात्माओं के भंडारे के काम आवेगी।" सेठ जी पर मानों १०० घड़ा पानी पड़ गया हो। अकबका कर बोले—"महाराज, महाराज, मैंने तो सुना है आप रुपया पैसा स्पर्श नहीं करते, जो लाता है उसे ही लौटा देते हैं।"

हँसकर महात्मा बोले—"अरे, भाई! मैं स्पर्श कहाँ कर रहा हूँ। स्पर्श न करने का नियम मेरा है। गोपाल दास का नियम तो है नहीं। स्पर्श तो गोपाल दास कर रहा है। रही लौटाने की बात? सो कोई धेला पैसा रुपया दो रुपया चढ़ाता है उसे लौटा देते हैं। दश हजार किसी ने

चढ़ाये हों नहीं। बड़ी रकम के लिये यह नियम नहीं है।" इतना कह कर महात्मा हँसने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये धनी एक पैसा देंगे तो उससे एक लाख की आशा रखेंगे। मनुष्यों से ही यह आशा रखते हों, सो बात नहीं। देवताओं को भी ठगते हैं। अपने लिये पान सुपारी लानी होगी। सुन्दर से सुन्दर चिकनी देख कर सुपारी लावेंगे। नामी बहुमूल्य पान खोज कर लावेंगे। देव पूजन के लिये आवश्यकता होगी, तो पंसारी से कह देंगे पूजा के लिये सुपारी चाहिये। यह कहकर सब से छोटी छोटी सड़ी सड़ी सुपारी छांटेंगे और उन्हें ही लावेंगे। एक सुपारी चढ़ा कर प्रार्थना करेंगे 'इस पुंगी फल से मेरी समस्त स्त्री, पुत्र, धन, धान्य की कामनायें इसी जन्म में नहीं, जितने भी मेरे जन्म हों सभी में पूरी होती रहें।' आप ही सोचिये; भगवान् से कितना सस्ता सौदा करते हैं। इनकी सब श्रद्धा स्वार्थ से भरी हुई होगी। जिसके पास तनिक भी चमत्कार देखेंगे, उसी को नमस्कार करेंगे, अन्य को सूखी प्रणाम भी न करेंगे। साधु की पूजा तभी तक है जब तक अपने स्वार्थ में व्याघात नहीं होता। जहाँ कोई दूसरा चमत्कारी दिखाई दिया कि साधु के गुरु बन जायँगे। "बहता पानी रमता जोगी" अच्छा होता है मुनियो! इस विषय में मैं आपको एक अत्यन्त ही मनोरंजक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक सेठ जी थे सेठ जी। बड़े धर्मात्मा। कोठी चल रही है व्यापार हो रहे हैं। सभी नगरों में आढ़त है, बड़े दानी बड़े धर्मात्मा। उनके दान धर्म की सर्वत्र ख्याति हो रही है।

एक दिन हँसी-हँसी में लक्ष्मी जी ने श्री नारायण से कहा—"महाराज! आप बड़े हैं या मैं बड़ी? अब भगवान् तो जानते ही थे पुरुष से स्त्री बड़ी होती है किन्तु जब बच्चे को चिढ़ाना होता है तो उससे विपरीत बातें बोलते हैं भगवान् बोले—"हम बड़े हैं तुम कैसे बड़ी हो सकती हो?"

अब तो लक्ष्मी जी अड़ गई—"महाराज! आप कैसे बड़े बड़ी तो मैं हूँ, मेरे बिना आपको कौन पूछता है। आपको तभी तक पूजा है जब तक मेरी प्राप्ति नहीं होती। जहाँ मैं आई, कि फिर आप को एक दल तुलसी भी चढ़ाना कठिनः होता है।

भगवान् ने कहा—"संसार में तो सब हमारा ही भजन करते हैं। तुम्हारे तो वाहन का नाम लेकर ही लोग कह देते हैं—"यह उल्लू है।"

लक्ष्मी तुनक कर बोली—"देखिये, महाराज ऊपर से चाहे भजन तुम्हारा ही करें, मन से चिन्तन लोग मेरा ही करते हैं। नाम चाहे तुम्हारा ही लें रूप मेरा ही उनके नेत्रों में नाचता रहता है। ये जितने जटाधारी लटाधारी, त्यागी, विरागी, ब्रह्मचारी, मठाधारी, आचारी, श्वेताम्बर तथा दिगम्बर हैं सब मेरीमुट्ठी में हैं। जहाँ खन्न से शब्द कान में पड़ा तहाँ जप तप ध्यान सब भूल जाता है। टका देखते ही टकटकी लग जाती है। भक्त ध्यान मेरा करते हैं। कहो तो तुम्हें प्रत्यक्ष करके दिखा दूँ।"

भगवान् पर कुछ काम धंधा तो है ही नहीं। नित नई लीला रचना लक्ष्मी जी के साथ कमनीय क्रीड़ा करते रहना यही उनका व्यापार है। बोले—"अच्छी बात है। चलो, देखें

लोग तुम्हारी पूजा करते हैं या हमारी। यह कहकर दोनों पति-पत्नी वेप बना कर चले।

भगवान् ने एक वृद्ध ब्राह्मण का बड़ा सुन्दर रूप बनाया। पोथी पत्रा बगल में दाब उन्हीं धर्मात्मा सेठ जी की कोठी पर पहुँचे। विद्वान् वृद्ध ब्राह्मण को देखकर सेठ जी ने उनका बड़ा आदर किया। विधिवत् पूजा की और कुछ दिन ठहरने की प्रार्थना की। पंडित जी महाराज ज्योतिष भी बताते थे और शाम को कथा भी कहते थे। उनका स्वर इतना सुरीला था, कि श्रोता मन्त्र मुग्ध की भांति उनके मुख कमल से निसृत दिव्य कथामृत का रस पान करते करते कभी तृप्त ही नहीं होते थे। सेठ जी की भी पंडित जी पर बड़ी श्रद्धा हो गई। सब लोग पंडित जी के वश में हो गये।

लक्ष्मी जी ने देखा कि भगवान् ने तो सेठ को वश में कर रखा है, उसी समय एक योगिनी का वेश धारण करके वे भी नगर में घूमती घूमती सेठ जी के यहां पहुँची। योगिनी का इतना सुन्दर आकर्षक रूप था, कि जो देखता था, वह देखता का देखता ही रह जाता था। काली काली घुंघराली लटें लटक रही थीं गेरुए वस्त्र की वे गाती लगाये हुए थीं। जिसमें से उनके दिव्य अंग की आभा फूट फूट कर बाहर निकल रही थी चंपा और सुवर्ण के समान अंगपर भस्म लिपटी अत्यंत ही शोभा पा रही थी। कंठ में रुद्राक्ष की माला, हाथ में सुमिरनी, बगल में झोली और मस्तक पर सुन्दर तिलक शोभा दे रहा था जब वे पलकों को बन्द करके 'अलख अलख' पुकारतीं, तो ऐसी लगती मानों साक्षात् तपस्या ही शरीर धारण करके आगई हो। अथवा शोभा ही सजीव होकर भ्रमण कर रही हो। किसी ने सेठजी से

कहा—"एक बड़ी भारी योगिनी आई है।" सुनते ही सेठ जी दौड़े आये। प्रणाम किया। और कुछ सेवा के लिये प्रार्थना की।

योगिनी महारानी कुछ काल तो मौन रही और फिर बोली—"मैं तनिक जल पीना चाहती हूँ।" सेठजी ने तुरन्त एक चाँदी के पात्र में गङ्गाजल मंगाया।"

योगिनीजी ने अपनी झोली से एक जलपात्र निकाला वह शुद्ध सुवर्ण का था, उसमें बहुत से मणिमुक्ता जड़े हुए थे। उसे निकाल कर बोलीं—"सेठजी! मैं किसी गृहस्थी के पात्र को व्यवहार में नहीं लाती। इसी पात्र में मुझे जल दे दो।"

सेठजी ने तुरंत उनके पात्र में जल दे दिया। जल पीकर योगिनीजी ने पात्र वहीं फेंक दिया। उस पात्र की रचना और मणि मुक्ताओं की चमक दमक से सेठजी तो मन्त्र मुग्ध की भाँति हो गये। उन्होंने कहा—"माताजी! इस अपने पात्र को आप अपनी झोली में रखले।"

उपेक्षा के स्वर में योगिनी ने कहा—"मै जिस पात्र से एक वार जल पी लेती हूँ, उसे फिर नहीं छूती।"

यह सुनकर तो सेठजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा अत्यंत ही आग्रह के साथ कहा—"माताजी! भोजन का समय हो गया है, जितनी भी रुचि हो, कुछ भोजन अवश्य करलें।"

सेठजी का बहुत आग्रह देखकर योगिनीजी को स्वीकार करना ही पड़ा।

सेठजी स्वयं गये अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाकर स्वयं लाये। योगिनीजी को एक दिव्य आसन पर बिठाया गया,

उन्होंने अपनी झोली में से सुवर्ण के थाल कटोरे पानी पीने के पात्र निकाले। सेठजी ने बड़े उल्लास के साथ उन पात्रों में परोसा योगिनीजी भोजन करने लगीं। वे इस प्रकार शनैः शनैः भोजन कर रही थीं जिस प्रकार नया दुलहा ससुराल में लजाते हुए चोंग चोंगकर चिड़िया की भाँति खाता है। कथा का समय हो गया था। सेठ जी के पास कई बार बुलावा आ गया था। किन्तु योगिनी को छोड़कर कैसे जायँ। उन्होंने सेवक से संदेश भिजवा दिया—"पंडित जी से कह देना। आज अभी कथा न होगी। जब होनी होगी मैं संदेश भेजूँगा। यदि संदेश न भेजूँ तो आज कथा बन्द हो समझना। अब मेरे पास कथा का संदेश लेकर कोई न आवे।" सेवक ने जाकर पंडितजी से कह दिया। पंडित जी तो समझ ही गये, कि सेठजी उलूक वाहिनी के चक्कर में फँसगये।

इधर योगिनी जी ने भोजन किया और सेठजी से कहा—"इन पात्रों को उठा लेजा।"

सेठजी ने ऊपर के मन से कहा—"माताजी! हम आपके पात्रों को कैसे ले सकते हैं?"

योगिनी जी बोलीं—"मेरा तो नियम ही ऐसा है जिन पात्रों में एक बार खा-पी लिया, फिर वे मेरे किसी काम के नहीं रहते। अब तुम जानों तुम्हारा काम जाने।"

यह सुनकर भक्तिपूर्वक सेठजी बोले—"अच्छी बात है, आपका प्रसाद ही रहेगा। महात्माओं का प्रसाद भी तो बड़े भाग्य से मिलता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब किसीकोकोई वस्तु साधु से ठगनी होती है, तो वह प्रसाद की ही आड़ में सब कुछ

ले लेता है। सेठजी के तो हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहा, वे सोचने लगे—"यदि यह योगिनी १०। ५ दिन भी रह जाय, तब तो, फिर मेरे धन का ठिकाना ही न रहे।" यह सोच कर वे बड़ी नम्रता से बोले—"माता जी! कुछ दिन इस सेवक पर भी कृपा हो, इस घर को भी अपनी पवित्र पदरज से पावन बनाया जाय।

योगिनी जी ने कुछ आँखे चढ़ाईं ध्यान किया फिर निस्पृहता के स्वर में बोलीं—"सेठजी! हम तो ठहरीं रमते राम। आज यहाँ कल वहाँ। हम स्थिर कहीं रहती नहीं। फिर भी किसी भक्त को देखती हैं, वहाँ १०-५ दिन टिक भी जाती हैं।"

सेठजी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"दास को भी कृतार्थ किया जावे माताजी!"

योगिनीजी उपेक्षा के साथ बोलीं—"भैया! मेरे रहने में बड़े झंझट हैं। मैं सब स्थानों पर तो रह नहीं सकती। स्थान स्वच्छ चाहिये। एकान्त चाहिये कोई आस पास न रहे।"

अत्यंत ही हर्ष के साथ सेठजी बोले—"माताजी! यह इतना बड़ा भवन आपका है, इसमें जो भी स्थान आपके अनुकूल हो, वहीं मैं आपके विश्राम का प्रबन्ध कर दूँ, यहाँ अनुकूल न हो, तो नगर के बाहर मेरी एक वाटिका है, वहां सब प्रबन्ध हो जायगा। पहिले यहाँ सब देख लें।"

योगिनीजी सहमत हो गईं, वे सेठजी के साथ सभी स्थानों को देखने चलीं। अच्छे से अच्छे भवन सुन्दर से सुन्दर जो स्थान थे, सभी योगिनीजी को दिखाये। कोई भी उनके

चित्त पर न चढ़ा। दिखाते-दिखाते सेठजी वहाँ ले गये जहाँ पंडित जी ठहरे थे। योगिनीजी ने पंडितजी को देखा। आँखों ही आँखों मे बातें हो गईं। मन ही मन मुस्कराती हुई योगिनी जी सेठ से बोलीं—"हाँ, यह स्थान तो कुछ अच्छा है। यहाँ तो मैं रह सकती हूँ।"

अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ सेठजी ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य है। माताजी! मेरा सर्वस्व आपका है।"

योगिनी बोलीं—"यहाँ कोई दूसरा तो नहीं रहता, यह बूढ़ा-सा तिलक धारी कौन है?"

शीघ्रता से सेठजी बोले—"माताजी! ये बड़े भारी पंडित हैं, एक कुटी में ये भी पड़े रहेंगे।"

अधिकार के स्वर में योगिनीजी ने कहा—"पड़े कैसे रहेंगे। कोई धर्मशाला है मुझे पंडित फंडित से क्या लेना। यहाँ रहेगा खों खों करेगा! यह रहेगा, तो मैं नहीं रह सकती।"

सेठजी ने घबरा कर कहा—"नहीं, नहीं, माताजी! ऐसी कोई बात नहीं। पंडितजी की क्या बात है, वे किसी अन्य स्थान में चले जायँगे।"

अपनी बात पर बल देती हुई योगिनीजी बोलीं—"चले कब जायँगे। शीघ्रता करो, अविलम्ब स्थान को रिक्त कराओ।"

सेठजी ने सरलता और दृढ़ता के साथ कहा—पंडितजी! आप नीचे के किसी कोठरी में चले जायँ।"

पंडितजी ने कहा—"न, भैया! हम तो इस स्थान को छोड़ेंगे नहीं।"

बीच में ही योगिनी जी बोलीं—"अच्छी बात है सेठजी। मैं तो चली।"

दीनता के स्वर में सेठजी ने कहा—"नहीं नहीं, माताजी !

आप कोई चिन्ता न करें मैं अभी सब प्रबन्ध करता हूँ।" यह

कहकर वे पंडितजी से अधिकार के स्वर में बोले—"महाराज आप बड़े हठी हैं, नीचे चले जायँगे तो आपका क्या बिगड़ जायगा ?"

पंडितजी ने योगिनी की ओर देखकर दृढ़ता के साथ कहा—"हम पहले ही यहाँ ठहरे हैं, यह हमारा बड़ा अपमान है कि एक स्त्री के पीछे तुम हमारा तिरस्कार कर रहे हो। हम नहीं जा सकते। ये चाहें रहें या जायँ।"

सेठजी को तो अब क्रोध आ गया। धनी का स्वभाव ही है। उन्होंने नौकरों से कहा—"इस बामन के सब सामान को उठाकर फेंक दो और इसे धक्का देकर बाहर निकाल दो।

नौकरों ने ऐसा ही किया। पंडितजी के टाट कमंडलु उठाकर फेंक दिये गये। और धक्के देकर नीचे कर दिये गये। अपना सा मुँह लेकर पंडित महाराज चले गये।

कुछ क्षणों के पश्चात् लक्ष्मीजी इधर उधर से घूमकर भगवान् के पास पहुँचीं और बोलीं—"कहो, महाराज जी! देख ली आपने अपने भक्त की भक्ति।"

हँसकर भगवान् बोले—"यह हमारा भक्त थोड़े ही था।" भक्त तो था तुम्हारा। तुम्हारा भक्त होकर भी इसकी धर्म में बुद्धि थी, दान पुण्य करता था इसी दान पुण्य के प्रभाव से मेरे इसे दर्शन हो गये।"

लक्ष्मीजी ने गर्व के साथ कहा—"देखो, महाराज! तभी तक भक्ति फक्ति है, जब तक मैं नहीं पहुँचती। जहाँ मैं पहुँची, कि फिर आपको कोई नहीं पूछता।"

भगवान् ने गम्भीर होकर कहा—"नहीं देवीजी ! आपका यह भ्रम है हमारे यथार्थ भक्त तो अकेली आपसे बात भी नहीं करते। हमारे साथ चली आओ, तो दूसरी बात है।"

लक्ष्मीजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"अच्छी बात है, ऐसा कोई भक्त हो तो दिखाइये। मैं तो समझती हूँ, ऐसा कोई भक्त न होगा।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है चलो तुम्हें दिखावें। यह कहकर भगवान् उन्हें एक वन में ले गये। एक सुन्दर आश्रम था। लिपा पुता स्वच्छ। उसमें सुन्दर-सुन्दर फल और फूलों के वृक्ष लग रहे थे। एक वानप्रस्थी अपनी धर्मपत्नी के साथ उसमें रहते थे। तुलसी का एक छोटा सा कानन लगा हुआ था। एक फूँस की कुटी थी। भगवान सालग्राम की पूजा एक चबूतरे पर होती थी, वानप्रस्थी जी नित्यकर्म से निवृत्त होकर वन में जाते, कंदमूल फल ले आते। भगवान् का भोग लगाकर राम-राम रटते रहते।

योगिनी जी इनके यहाँ भी पहुँचीं और जाकर बोलीं—"साधुजी ! हमें आप रहने के लिये स्थान देंगे ?

साधुजी ने कहा—"माताजी ! मैं अकेली स्त्री को तो अपनी कुटी में स्थान दे नहीं सकता। आपके पति होते तो कोई बात नहीं थी। आप नगर में चली जायँ।"

योगिनी ने कहा—"अब इस समय मैं कहाँ जाऊँगी रात्रि भर रहने को मुझे स्थान दे दो।

वानप्रस्थी जी ने कहा—"अच्छी बात है, उस पेड़ के नीचे रहो।"

योगिनी उस पेड़ के नीचे चली गई। वानप्रस्थीजी की पत्नी उन्हें कुछ कन्दमूल फल दे आई। उस योगिनी ने उनसे कहा—"देवीजी! आप यहाँ वन में इतने कष्ट से क्यों हैं। आपको जितने द्रव्य की आवश्यकता हो, वह मुझसे ले लें।"

देवी ने कहा—"माताजी! आप ऐसी बात फिर मुझसे कभी न कहें। मेरे धन सर्वस्व तो ये मेरे परमेश्वररूप पति हैं। इनके रहते हुए मुझे किस वस्तु की आवश्यकता है।" यह कहकर कन्दमूल फल देकर वे चली गईं।

प्रातः योगिनी चली गई, किन्तु वहाँ वे रत्न मोतियों का एक ढेर छोड़ गईं आश्रम में झाड़ू देते हुए जब वानप्रस्थीजी की पत्नी वहाँ पहुँचीं, तो उन्होंने अन्य कूड़े के साथ उन सबको भी बाहर फेंक दिया।"

इस प्रकार वह योगिनी कई बार आई और रत्न मोती हार आदि छोड़ गई और वानप्रस्थी पत्नी ने उन सबको बाहर फेंक दिया। जब कई बार ऐसा हुआ, तो वे डाँटकर बोलीं—"देवी जी! देखिये, आप यहाँ आती हैं और कूड़ा करकट फैला जाती हैं। अब यहाँ न आइये नहीं तो फिर आपका हम अपमान करेंगे। यह सुनकर लक्ष्मीजी अपना सा मुँह बना कर वहाँ से चल दीं। तब भगवान् ने कहा—"देवि! देख लीं, तुमने मेरे भक्तों की निस्पृहता। मेरे बिना, राज्य, स्वर्ग, धन वैभव यहाँ तक कि वे मुक्ति को भी नहीं चाहते। जो केवल तुम्हारे ही भक्त हैं, वे धन के मद में मत्त होकर अन्य लोगों का भी अपमान करते हैं और मेरा भी। देखो, जब तक उस सेठ का मनोरञ्जन होता रहा, तब तक तो उसने मुझे रखा। जहाँ उसे अपने स्वार्थ में व्याघात प्रतीत हुआ, कि वहाँ उसने धक्का

देकर मुझे निकाल दिया। इसीलिये जिसे मैं अपनाता हूँ, उसका पहिले सर्वस्व हर लेता हूँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर लक्ष्मीजी समझ गईं कि मैं तो भगवान् की चेरी हूँ, मेरी जो इतना जगत् में प्रभाव है, वह धन लोलुप अज्ञों में ही है या जो पठित मूर्ख हैं भगवान् भक्त तो मुझे भगवान् के नाते ही पूजते हैं। भगवान् के सम्बन्ध से ही मुझे चाहते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, भगवान् अपने भक्त का सर्वस्व क्यों हरण करते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! इस विषय को मैं आपको समझाता हूँ आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

विधि के सुनिकैं वचन कहें हरि हँसि के बानी।
ब्रह्मन्? तुम सर्वज्ञ वेदवित् पंडित ज्ञानी॥
जन्म कर्म ऐश्वर्य अवस्था अरु सुन्दर तन।
विद्या धन ये सबहिँ प्रशंसित जगमें हैं गुन॥
इन सब महँ मद रहतु है, धनमद अति ही प्रबलतम।
धनमद महँ उनमत्त नर, नेत्र सहित हू अंध सम॥

भक्त का सर्वस्व हरि हरण क्यों करते हैं?

(५७८)

यस्याहं मनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अपने आगे धनी गनहिं नहिँ काहू जन कूँ।
बढ़ै लाभ तैं लोभ पाप करि जोरे धनकूँ ॥
तातैं जापै कृपा करहुँ ही सब मदहारी।
नासूं धन ऐश्वर्य बनाऊँ ताहि भिखारी ॥
धन, पशु, पुत्र कलत्र जे, करैं विघ्न हरि भजन महँ।
देखि सकहुँ नहिं तिनहिं हौं, नासि लेहुँ निज शरन महँ ॥

मन एक ही है, इससे चाहें विषय कमा लो या हरि को रिझा लो। संसार के जितने विषय हैं, उनका उपयोग इतना

---

* श्री भगवान् धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जिसे मैं अपनाता हूँ उसका शनैः शनैः सब धन हरण कर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तो उसके स्वजन कुटुम्बी उसे दुःखों से दुखी देख कर उसका परित्याग कर देते हैं।

ही हैं, कि वे प्रभु सेवा के साधन हैं। पुष्प इसलिये सुन्दर नहीं है, कि वे हमारी घ्राणेन्द्रिय को क्षण भर को गन्ध प्रदान करके सुख पहुँचाते हैं। वे इसीलिये सुखद हैं, कि उनका उपयोग प्रभु सेवा में होता है। इसी प्रकार समस्त संसार के पदार्थों के लिये है। मिष्ठान्न पदार्थ इसीलिये श्रेष्ठ हैं, कि उनका भगवान् को नैवेद्य लगता है। घोड़ा मार्ग में इसीलिये सुखकर है, कि उस पर चढ़कर यात्रा सुख पूर्वक की जा सकती है। जिस घोड़े को स्वयं हमें पीठ पर लादना पड़े, स्वयं ढोना पड़े, वह तो दुख देने वाला है। मोह वश ही हम उसके बोझे को ढो रहे हैं। धन का एक मात्र उपयोग है, यह भगवान् के मङ्गलमय उत्सवों में लगे। भगवान् की महती पूजा हो, असंख्यों नरनारी प्रसाद पावें भगवान् के नाम का कीर्तन हो, सुन्दर सुन्दर सुमधुर कथायें हों। भगवान की मधुमय लीलाओं का धूमधाम से अनुकरण हो, सब लोग प्रसन्न हों, गौ ब्राह्मणों का पूजन हो, नित्य धूमधाम रहे, आगत अतिथि अभ्यागतों का उत्साह के साथ स्वागत सत्कार हो। यदि धन को एक मात्र भगवान् का ही समझ कर उन्हीं की सेवा में व्यय किया जाय, तब तो वह सुन्दर है, सुखद है, किन्तु ऐसा न करके जो केवल धन को जोड़ना ही जानते हैं, उसे दान धर्म में लगाना, भगवान् सम्बन्धी सेवाओं में व्यय करना नहीं जानते वे तो केवल भरवाही हैं उनका धन उनके लिये विघ्न है। भगवान् अपने भक्तों से कुछ कार्य कराना चाहते हैं, तो उन्हें धन ऐश्वर्य देते हैं। फिर उनका धन मे महत्व हटाने के लिये सर्वस्व अपहरण कर लेते हैं। यदि अपहरण किये जाने पर भी जिसे किसी प्रकार की चिन्ता क्लेश होती नहीं, इसमें भी अपने स्वामी की कृपा का अनुभव करता

है, तो भगवान् उसे फिर आवश्यक समझते हैं, तो उसके मोह को दूर करके उसे फिर धन दे देते हैं। इसीलिये भगवान् भक्त के धन का अपहरण करें या उसके बन्धु बान्धवों का नाश करदें, तो इसे उनकी कृपा ही समझनी चाहिये। क्योंकि भगवान के समस्त विधानों में मङ्गल ही निहित है। शिव के कार्य अशिव कैसे हो सकते हैं?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा कि भगवान् अपने भक्त का सर्वस्व क्यों हरण करते हैं इसे इतना कष्ट क्यों देते हैं? इसका मैं उत्तर देता हूँ आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ऋषियो! सुवर्ण को ही बार बार अग्नि में तपाया जाता है। उत्तीर्ण होने की इच्छा वाले की ही परीक्षा ली जाती है। उसी प्रकार भक्त को ही आर्थिक कष्ट देकर उसके चित्त को विषयों से मोड़ अपनी ओर भगवान् लगाते हैं। भक्त का यदि भगवान् की अपेक्षा धन में मोह है, तो श्रीहरि उस धन को हर लेते है, यदि ऐश्वर्य का गर्व है, तो उसके ऐश्वर्य का नाश करके गर्व को खर्व कर देते हैं, किसी को अपने दान, सम्मान का अभिमान है, तो अच्युत स्वयं ही उसके अभिमान को चकनाचूर कर देते हैं। इस विषय में मैं आप को एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। आप उसे दत्तचित होकर श्रवण करें।

एक बार लक्ष्मीजी ने—"भगवान् से कहा—"प्रभु! आप अपने भक्तों को धनी क्यों नहीं बनाते।"

भगवान ने कहा—"हमारे भक्त इन सोने चाँदी के ठीकरों से धनी नहीं होते, उनका धन तो मेरे चरणों की भक्ति है। यदि वे धन के माया जालमें फँस जाय, तो मेरा भजन भी भूल जायँ।"

लक्ष्मीजी ने कहा—"महाराज ! जब घर में यथेष्ट धन-धान्य होता है तभी दान देने की इच्छा होती है, तभी उदारता सूझती है। जिसके पास कुछ है ही नहीं वह क्या दान करेगा, क्या धर्म करेगा।

भगवान् ने कहा—"धन पाकर कोई विरले ही धर्म करते हैं, नहीं तो प्रायः देखा गया है, जहाँ धन आया तहाँ लोभ बढ़ता है, धर्म कर्म से विमुख होकर या तो धन को इकट्ठा करने में लग जाते हैं, या विषयों में फँस जाते हैं। अच्छी बात है, तुम्हें किसी दिन यह लीला दिखावेंगे।

एक दिन भगवान् ने एक भिक्षुक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया। लक्ष्मी जी को भी बुढ़िया बना लिया और एक धनी के द्वार पर पहुँचे। उसके यहाँ सौ गौएँ थीं। जाकर घरवाली से बोले—"माता जी ! हम बूढ़े है, निर्बल हैं, बड़े भूखे हैं स्वास्थ भी अच्छा नहीं हैं, तनिक सा दूध हमें दे दो।"

यह सुनते ही घर की स्वामिनी तो आग बबूला हो गई। क्रुद्ध होकर बोली—"तुम दोनों घर घर भीख माँगते इधर से उधर मारे मारे घूम रहे हो। कुछ काम धंधा तो करते नहीं। काम क्यों करो, जब बिना परिश्रम के ही माल मिल जायँ, कहावत है—

करै चाकरी आवै चोट।
सबसे भले भीख के रोट ॥

माँगते तो हो भीख, और जीभ को वश में नहीं किया। मन चाहता है दूध मलाई उड़ावें। मानों दूध पानी है। चले हैं दूध माँगने। भाग जाओ यहाँ से।"

ब्राह्मण हठी थे—बोले—"माताजी ! कुछ तो दे दीजिये, बिना खाये चला नहीं जाता।"

घर की स्वामिनी बोली—"छटांक आध पाव मठा कहो तो मैं दे दूँगी।"

भगवान् ने कहा—"लाओ, मठा ही दे दो।"

तब उसने तनिक सा मठा दे दिया। भगवान पी गये और बोले—"माता जी, तुम्हारी बहुत बढ़ती हो, सहस्र गौयें हो जायँ।" यह कहकर भगवान् वहाँ से चल दिये। चलते चलते एक निर्धन ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे।

उन निर्धन ब्राह्मण का घर गाँव से बाहर था। एक वे थे एक उनकी पत्नी, एक छोटा सा बच्चा भी था। घर के सम्मुख एक गौ बँध रही थी। भगवान् ने जा कर कहा—"हम बूढ़े हैं, हमें कुछ दूध दे दो।"

इतना सुनते ही ब्राह्मण ने उन्हें बैठने को आसन दिया, पैर धोये, और बड़ी नम्रता से बोले—"ब्रह्मन्! मेरी यह गौ आध सेर तीन पाव दूध देती है। वह काम में आ जाता है, सायंकाल तक आप विराजें। जितना दूध होगा, हम आपको अर्पण कर देंगे।"

ब्राह्मणी भीतर से ये बातें सुन रही थी, सुनते ही दौड़ी आई और बोली—"कुछ दूध बच्चे के लिये मैंने रख छोड़ा है। बच्चा तो नित्य पीता ही है, ये अथिति कब कब आवेंगे। उस दूध को इन्हें दे दें।"

इतना सुनते ही ब्राह्मण उठा और दूध ले आया। आकर बोला—"ब्रह्मन्! गौ कम दूध देती है, मुझे दिनभर घास के लिये दौड़ना पड़ता है, तब कुछ दे देती है। इतना दूध है इसे अभी पी लें।" यह कहकर ब्राह्मण ने भगवान् को दूध दिया। भगवान् एक साँस में ही सब को चढ़ा गये, लक्ष्मी जी के लिये

एक बूँद भी नहीं छोड़ा। पीकर बोले—"भगवान् करे तुम्हारी यह गौ भी नष्ट हो जाय।"

यह कहकर भगवान् वहाँ से लाठी टेकते हुए चले गये। लक्ष्मी जी ने पूछा—"महाराज! जिसने आपको एक चुल्लू भी दूध नहीं दिया तनिक सा मट्ठा दिया उसे तो आपने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे एक सहस्र गौएँ हो जायँ और जिसने अपने पुत्र के पेट को काट कर अपना सर्वस्व दे दिया, उसे आपने शाप दे दिया कि तुम्हारी गौ नष्ट हो जाय। यह आप उलटा व्यवहार क्यों करते हैं? इस विषमता का क्या कारण है?"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"देखो, जिस पर मैं कृपा करता हूँ, पहिले तो उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता हूँ। मनुष्य माया मोह में फँसकर मुझे भूल जाता है। वह अपने सम्मुख सब को तुच्छ समझता है। सब का अपमान करता है। दान धर्म में रुचि नहीं रहती। रात्रि दिन दस के बीस और बीस के तीस बनाने में ही लगा रहता है। ऐसे लोगों को मैं और सम्पत्ति देता हूँ। उस १०० गौ वाली के अभी जब १०० गौ हैं, तब मट्ठा दे भी देती है। जहाँ हजार हुईं, कि फिर इतना भी न देगी। इसलिये सहस्र गौ होने का उसे वरदान नहीं है शाप है। ये ब्राह्मण ब्राह्मणी दोनों मेरे भक्त हैं, मेरा भजन करते हैं। फिर भी इनके भजन में यह गौ कंटक है, गौ की चिन्ता न रहे तो ये मेरा और भी अधिक भजन करेंगे इसलिये गौ न रहने का इनके लिये शाप नहीं वरदान है।"

तब लक्ष्मी जी को विश्वास हो गया कि भगवान् अपने किसी किसी भक्त को जो दारिद्रय का दुःख देते हैं। वह उसकी श्रद्धा बढ़ाने के लिये—उसके हित के लिये देते हैं। जो दरिद्रदीन हो जाता है, वह आशा भरी दृष्टि से सब की ओर देखता है। सब

का आदर करता है। धनी को गर्व हो जाता है, वह ऊपर सिर करके चलता है, सब का अपमान करता है। इसलिये भक्तों को निर्धन, भगवान् उनके कल्याण के ही लिये बनाते हैं। निर्धनता, भी उनकी दया का चिन्ह है।

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! तब तो सभी दरिद्री पुरुष पुण्यात्मा ही हुए। यदि निर्धनता से ही भजन होता तो ये सभी धन हीन पुरुष भगवद् भक्त होते, किन्तु देखने में तो ऐसा आता नहीं। दारिद्र्य के दुःख से दुखी होकर लोग नाना पाप करते हैं। इसके विपरीत बहुत से धनी भी बड़े सदाचारी भगवद् भक्त अभिमान शून्य और निस्पृह देखे गये हैं। यह क्या बात है, कृपा करके हमारे इस सन्देह को दूर कीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! मैं इसका रहस्य आपको समझाऊँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

जे जन सब कुछ त्यागि शरन मेरी महँ आवैं।
ते तजि सब अभिमान निरन्तर मम गुन गावैं॥
जाति बरन अभिमान करैं नहिं धन महँ ममता।
परहित महँ नित निरत तजैं सब मद उद्धतता॥
त्यागि मान मद सबनि महँ, निरखैं श्री भगवान् हैं।
सब अनर्थ के मूल ये, मिथ्या ही अभिमान हैं॥

भगवद् कृपा का लक्षण।

(५७६)

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥
(श्री भा० ८ स्क० २२ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

माया मोहित जीव जगत महँ सुख दुख देखें।
किन्तु भक्त सब माँहि निरन्तर मोकूं पेखें ॥
हरि जस राखैं रहें खवावें जो सो खावैं।
राखें जहँ रहि जायँ विष्णु बाँधे बँध जावैं ॥
ऐसी जिनकी मति सदा, कृपा प्रतीक्षा नित करहिँ।
परम अनुग्रह पात्र मम, ते भवसागर तैं तरहिँ ॥

अभिमान के अनेक कारण हैं। जिसे जो वस्तु भाग्यवश मिल गयी, उसे वह प्रभु प्रसाद न समझकर अज्ञानवश

श्री भगवान् ब्रह्माजी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! जन्म कर्म आयु, रूप, विद्या ऐश्वर्य तथा अन्य धन आदि अभिमान जनक वस्तु होने पर जिसे अभिमान न हो, तो यह मेरा उस प्राणी पर परम अनुग्रह है।

उसे अपनी समझता है और उसके लिये अभिमान करता है कि मेरे पास यह अद्भुत वस्तु है। किसी का जन्म श्रेष्ठ कुल में हो गया है तो वह उसी घमंड से फूला नहीं समाता। हम अमुक वंश के हैं। हमारे पूर्वज ऐसे वैसे थे, उसी मिथ्याभिमान में भरकर वह अन्य लोगों का तिरस्कार करता है। कोई अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप कर्म करता है, तो उसी अभिमान में चकनाचूर हो जाता है। सब से कहता फिरता है—"हम इतना जप करते हैं, ऐसे सदाचार से रहते हैं। अमुक तो बड़ा भ्रष्ट है। वह पंडित हुआ तो इससे क्या मेरे समान कर्म तो नहीं करता।" कोई युवक है, वह यौवन के मद में वृद्धों का तिरस्कार करता है। उनके पोपले मुख का अनुकरण करके खिल्ली उड़ाता है, अरे भाई हँसते क्यों हो, तुम्हें भी तो बूढ़ा होना है। कभी इस वृद्ध की भी तुम्हारी भाँति युवावस्था रही होगी। कोई अपने सौन्दर्य पर ही लट्टू है, कुरूपों से घृणा करता है। जो सुन्दर नहीं हैं उनकी निन्दा करता है। कोई अपनी विद्या के अभिमान में ही चूर है, अन्य लोगों को तृण के समान समझता है। कोई ऐश्वर्य पाकर ही मदान्ध बना हुआ है। सामने के पुरुषों को देखते हुए भी नहीं देखता। धनी अपने सम्मुख निर्धनों को तुच्छ समझता है, इसीलिये वह अपने से छोटों का अपमान करता है। यदि उत्तम कुल में जन्म, अच्छे अच्छे सत्कर्मों का आचरण, सुन्दर रोग रहित युवावस्था, भव्य आकृति, सफल विद्या, अपार ऐश्वर्य और यथेष्ट धन, इन सबके होने पर भी जिसे अभिमान न हो, उसके ऊपर भगवान् का सबसे अधिक अनुग्रह है।

शौनक जी के पूछने पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! असत् पात्र को दान देने से मनुष्य अग्रिम जन्मों में दरिद्री होता है।

आप लोगों को तो अनुभव नहीं, दरिद्रता के कारण गृहस्थियों को कितने-कितने दुःख झेलने पड़ते हैं। जब पेट भरता नहीं तो मनुष्य इस पापी पेट के लिये बड़े से बड़े पाप करता है। पापों का फल नरक है ही, पाप करके पुरुष नरक में जाता है, नरक भोग कर फिर किसी अधम योनि में मनुष्य का जन्म होता है, वहाँ फिर पाप करता है, फिर नरक जाता है। इस प्रकार पुनः-पुनः दरिद्री होकर जन्मता है। पुनः पाप करता है, पुनः नरक जाता है। इस प्रकार यद्यपि दरिद्रता पाप का चिन्ह है, किन्तु पुण्य कार्यों के करते करते जो दरिद्रता आती हैं, वह परमपुण्य का फल है। जिस दरिद्रता में तृष्णा, असन्तोष, दुःख ग्लानि और अशान्ति है, वह दरिद्रता पाप मूलक है। जिस दरिद्रता में सन्तोष है, किसी प्रकार का दुःख नहीं, मन में ग्लानि नहीं और एक प्रकार का अपने सुकर्मों पर गर्व है आत्म शांति है ऐसी दरिद्रता तो परम पुण्य का फल है।

भगवान् के भक्तों के पास भी धन होता है, किन्तु वे धन को अपना नहीं समझते। वे तो अपने को वेतन भोगी मुनीम समझते हैं। जब उन्हें किसी प्रकार का धन पाकर मद हो जाता है तो मदहारी मधुसूदन उनके मद को मेटने को उन्हें दरिद्र बना देते हैं। भगवान् अपने भक्तों को दुःख का अनुभव कराकर विशुद्ध बना देते हैं। इस विषय में मैं आपको एक अत्यंत ही प्राचीन पौराणिक इतिहास सुनाता हूँ, उसे आप सब श्रद्धा के साथ श्रवण करें।

प्राचीन काल में एक बड़े ही धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा थे। वे बड़े कुलीन थे, वंश परम्परा से उन्हें राजसिंहासन प्राप्त हुआ

था वे बड़े सदाचारी धर्मात्मा और दाननिष्ठ थे। जैसे राजा धर्मात्मा थे वैसी ही उनकी सती साध्वी, धर्म परायण, दयावती महारानी थीं। दोनों ही युवावस्थापन्न थे, किन्तु युवावस्था जन्य चंचलता अस्थिरता उनमें तनिक भी नहीं थी। राजा रानी दोनों ही बड़े सुन्दर थे। शची इन्द्र के समान, रति और कामदेव के समान उनकी जोड़ी थी। महाराज बड़े साधुसेवी और विद्वान् थे। धन ऐश्वर्य की तो उनके कमी थी ही नहीं। उनका कोष याचकों के लिये सदा खुला रहता था। उनका अटूट भंडार था। उनके यहाँ से कोई भी याचक निराश होकर नहीं लौटता था। जो जिस बात की इच्छा करता, उसे वह वस्तु तुरन्त दी जाती। राजा के ऐसे गुणों के कारण उनकी ख्याति स्वर्ग तक फैल गई। इन्द्र भी उनके यश को सुनकर उनसे ईर्ष्या करने लगे।

एक बार उनके धैर्य की परीक्षा लेने के लिये एक अटपटे मुनि ने आकर उनके यहाँ चातुर्मास्य व्रत आरम्भ किया। वे कुछ व्रत पालन की इच्छा से तो ठहरे ही नहीं थे, वे तो राजा के धैर्य की परीक्षा करना चाहते थे। वे जानना चाहते थे कि इतना ऐश्वर्य होने पर भी इन्हें यत्किंचित् गर्व है या नहीं। नित्य कोई न कोई अटपटी बात उनसे करते।

एक दिन मुनि ने कहा—"राजन्! हमारी इच्छा है कि हम रथ में बैठकर आपके नगर का निरीक्षण करें।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! यह कौन सी बड़ी बात है। सुन्दर से सुन्दर रथ समुपस्थित हैं। आप जिस प्रकार के रथ में चाहें बैठकर नगर का निरीक्षण करें।

मुनि बोले—"राजन् ! हम घोड़े वाले रथ में नहीं चढ़ते। एक ओर आप लगें और दूसरी ओर आप की रानी लगे। तुम दोनों जब रथ में जुत कर उसे खींचोगे, तो उसी में चढ़कर हम जायगे।"

राजा ने दीनता के साथ कहा—"ब्रह्मन् ! यह हमारा अहोभाग्य है। ऐसी सेवा का सौभाग्य हमें कब प्राप्त हो सकता है।" इतना कहकर महाराज ने रथ मँगाया। एक ओर तो अपनी प्राण प्रिया परमसुकुमारी राजमहिषी को लगाया और दूसरी ओर स्वयं जुत गये। वे अटपटे मुनि उस रथ में कोड़ा लेकर बैठ गये। बीच बाजार से वे उस रथ को लेकर चले। सब नर-नारी राजा-रानी को रथ में जुड़ा देखकर चकित रह गये। राजा के मुख पर न कोई विकार था, न लज्जा न संकोच। वे बड़ी प्रसन्नता के साथ रानी के सहित रथ को खींच रहे थे, रानी परम सुकुमारी थीं, उन्होंने अब तक सेर भर भी बोझा नहीं उठाया था, राजा को भी रथ खींचने का कभी अवसर नहीं पड़ा था, अतः वे रुक-रुक कर चलने लगे। तब वे मुनि रथ में बैठे ही बैठे राजा रानी के शरीरों में सड़ासड़ कोड़े लगाने लगे। रानी के अंगों से रक्त बहने लगा। फिर भी महाराज विचलित नहीं हुए। उन्होंने मुनि के प्रति अपनी तनिक भी अश्रद्धा प्रकट नहीं की, इस प्रकार उन्हें घुमा कर लाये।

तब तो मुनि ने प्रसन्न होकर अपना यथार्थ रूप दिखाया। मुनि ने कहा—"राजन् ! आपने अपनी निरभिमानता के कारण समस्त ऊपर के लोकों को जीत लिया है। आप मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। आप भगवान् के परम अनुग्रह भाजन बन चुके हैं। यह जीवात्मा अनेक योनियों में कर्मानुसार भ्रमण

करता हुआ तब मनुष्य योनिको प्राप्त करता है। मनुष्य देह पाकर भी यदि उसका जन्म उच्च कुल में हो, तिस पर भी सदाचार सम्पन्न हो, नई अवस्था का हो, रूपवान् तथा विद्वान् हो, अटूट धन सम्पत्ति तथा अतुलऐश्वर्य हो, इतनी सब अभिमान बढ़ाने वाली वस्तुओं के रहते हुए भी जिसे अभिमान न हो, उस पर मेरा परम अनुग्रह है। वह मेरी कृपा का भाजन है। राजन्! तुम इस संसार सागर को अपनी क्षमा, और सहनशीलता से पार कर गये। तुम संसार के आवागमन से सदा के लिये मुक्त हो गये।" इतना कहकर वे मुनि अन्तर्धान हो गये, राजा को भगवान् के दर्शन हुए और अन्त में अपनी सहन शीलता के कारण वे परमपद को प्राप्त हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वामन भगवान् गये तो थे महाराज बलि को ठगने के लिये, किन्तु उनकी सहनशीलता तथा सत्यनिष्ठा के कारण वे स्वयं ही ठग गये। जब ब्रह्माजी ने बलि को बँधा हुआ देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और इसीलिये पूछा—"आप इसका सर्वस्व हरण करके भी इतना कष्ट क्यों दे रहे हैं?"

इसी पर भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं बलि को बाँध नहीं रहा हूँ, किन्तु ये ही मुझे अपनी प्रबल सहन शीलता के कारण अपने वश में किये हुए हैं। देखिये, इनके ऊपर एक से एक बढ़-कर विपत्तियाँ आती रहीं। एक तो मैंने इसका सर्वस्व अप-हरण कर लिया, धन सम्पत्ति से हीन कर दिया, मेरे पार्षदों ने इसके सैनिकों को भगा दिया, इसका तिरस्कार किया, गरुड़

जी ने इसे बाँध लिया, जाति वालों ने भी त्याग दिया। इसके कुल गुरु ने इसे अनेक कटु वचन कहकर डराया, धमकाया, अंत में इसको अविचल देखकर उन्होंने इसे शाप भी दे दिया। फिर भी ये दैत्य दानवों के अग्रणी, परम यशस्वी दानी इन्द्रसेन महाराज अपने प्रणसे तिल भर नहीं हटे। न अपनी प्रतिज्ञा से ही विचलित हुए। इसलिये ब्रह्माजी ! मैं तो समझता हूँ इन बलि महाराज ने ही मेरी दुर्जय माया को जीत लिया है, ये परमपद के अधिकारी बन गये हैं।

ब्रह्माजी ने कहा—"तब महाराज ! आप अब इन्हें कहाँ रखेंगे ? इनकी भूमि तो आपने छीन ली।"

भगवान् बोले—"छीन काहे को ली, इन्हें तो मैंने सर्वस्व दे डाला।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"तब क्या भगवन ! ये मुक्त हो जायँगे।"

भगवान् बोले—"मुक्त हो क्या जायँगे, मुक्त तो ये हैं ही। एक रूप से तो ये मेरे पार्षद बन ही गये। अभी एक रूप से आगामी मन्वन्तर में इन्हें इन्द्र और बनाना है। तदनन्तर ये मेरे धाम को सदाके लिये प्राप्त हो जायँगे।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"तब तक ये कहाँ रहें ?"

भगवान् अब महाराज बलि से कहने लगे—"हे महाभाग ! विरोचननन्दन ! जिसमें आधि, व्याधि, क्लान्ति, तन्द्रा पराभव और अन्य किसी प्रकार का विघ्न नहीं है, उस, विश्वकर्मा के निर्मित सुतल लोक में तब तक अपने जाति परिवार वालों के साथ जाकर कर तुम वास करो। यह स्थान स्वर्ग

से भी श्रेष्ठ है, देवता भी उसकी आकांक्षा करते है, वह नीचे का स्वर्ग है। वहाँ तुम्हें कोई कष्ट न होगा, स्वर्ग से भी अधिक सुखी तुम वहाँ रहोगे। वहाँ कोई भी तुम्हें जीत न सकेगा। जो असुर तुम्हारे शासन को न मानेंगे, उन्हें मैं अपने चक्र से नष्ट कर दूँगा।"

महाराज बलिने कहा—"प्रभो! मुझे ऊपर नीचे का स्वर्ग नहीं चाहिये। मुझे तो आप चाहिये। जहाँ आप हैं, वहाँ सब कुछ है, जहाँ आप नहीं वह स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान है। आपको भी मेरे साथ वहीं रहना पड़ेगा।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"लोग तो कह रहे हैं कि वामन ने बलिको बाँध लिया, किन्तु यथार्थ बात यह है कि बलिने ही मुझे सदा के लिये अपना सेवक बना लिया। अच्छी बात है, मैं तुम्हारा द्वारपाल बनकर हाथ में गदा लेकर तुम्हारे पुरकी सदा रक्षा करता रहूँगा। तुम सर्वदा मुझे वहाँ अपने समीप ही देखोगे। अब तुम में जो कुछ आसुर भाव है वह भी यहाँ रहने से सब नष्ट हो जायगा। नष्ट तो सब हो ही गया। अब आगे जो सावर्णि मन्वन्तर आवेगा, उसमें इन्द्र को हटाकर तुम्हें मैं इन्द्र बनाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलिको इन्द्र बनने तथा सुतल लोक का राज्य पाने से प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु इस बात से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्रीहरि दास होकर मेरे समीप एक रूप से प्रत्यक्ष साथ रहेंगे।

छप्पय

ब्रह्मन् बलि ने जीति लई दुर्जय मम माया।
अजर अमर ह्वै गई कीर्ति अरु इनकी काया॥
धन सम्पति तैं हीन बँधे बन्धन महँ भूपति।
करे तिरस्कृत सुरनि, यातनाहू दीन्हीं अति॥
दयो भयंकर शाप गुरु, जाति बन्धु सब तजि गये।
छल करिकैं सरबसु हरयो, तोऊ विचलित नहि भये॥

महाराज वलिका भगवदाज्ञा से सुतलमें प्रवेश

(५८०)

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों विधि कूँ समझाइ कहैं बलि तैं वामन हरि।
इन्द्रसेन नृपवर्य करो मम आयसु सिर धरि॥
सुतल लोक महँ बसौ दिव्य होवे तव सब अँग।
द्वारपाल बनि रहूँ द्वार पै हौं तुम्हरे सँग॥
भक्तानुग्रह निरखि बलि, बोले है गद्गद् वचन।
अनुकम्पा अनुपम करी, हे अच्युत अशरनशरन॥

सर्वेश्वर को जो अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं उनके लिये भगवान् के निकट कोई वस्तु अदेय नहीं है। भगवान्

---

* वामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—हे महाराज इन्द्रसेन! आप अपने बन्धु बान्धवों तथा जाति के लोगों के सहित उस सुतल लोक को जाइये। जिस लोक की देवता भी इच्छा करते हैं। आपका कल्याण हो।

ज्ञानियों से बड़े प्रसन्न रहते हैं। उन्होंने मुक्ति की इच्छा की, तुरन्त उन्हें मुक्ति प्रदान कर देते हैं। मुक्ति दे दी सदा के लिये झंझट मिटा, किन्तु वे भक्तों से बड़े घबड़ाते हैं। क्योंकि भक्तों के तो उन्हें सदा पीछे-पीछे फिरना पड़ता है, उनकी सदा देख रेख रखनी पड़ती है, उनकी चरण धूलि को सदा सिरपर धारण करना पड़ता है। भक्त यद्यपि मुक्ति चाहते नहीं, किन्तु मुक्ति तो उन्हें बिना माँगे अनायास में रुँक घोक में मिल जाती है। जैसे दही लेने जाओ, तो सकोरा या दोना बिना माँगे मिल जाते हैं। पूड़ी लेने पर साग बिना दाम के मिलता है। उसी प्रकार भक्त का संसार बन्धन तो प्रभु पादपद्मों में पहुँच-कर स्वतः ही कट जाता है। भगवान् की भक्तवत्सलता तो देखिये, जो उन्हें श्रद्धा से एक दल तुलसी, एक चुल्लू जल चढ़ा देते हैं, ऐसे निष्कपट श्रद्धालु भक्तों को वे अपने आपको भी दे देते हैं। ऐसा न होता तो ये इतने बड़े राजे महराजे राज्यपाट छोड़कर क्यों निरन्तर भिक्षु बनकर उनके चरणों का चिन्तन करते रहते ?

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् ने महाराज बलि के समीप सुतललोक में नित्य ही रहने का तथा उनकी रक्षा करने का आशीर्वाद दिया, तो इससे उन्हें अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। आनन्द के कारण उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो गया। यद्यपि प्रेम के आवेग के कारण उनका कंठ रुक गया था, फिर भी अपने को सम्हाल कर बड़े कष्ट पूर्वक गद्‌गद् वाणी से, वे दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए वामन भगवान् की स्तुति करने लगे।

बलि ने कहा—"प्रभो! आपकी करुणा के सम्बन्ध

कुछ कहा ही नहीं जा सकता। किसी पर आप जल देने से, किसी पर पूजा करने से, और किसी पर केवल प्रणाम करने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। गज ने ग्राह से मुक्ति पाने के लिये सूँड़ में कमल उठाकर आपकी स्तुति की थी। आपने उसका उसी समय उद्धार किया। देवताओं पर जब जब विपत्ति पड़ती है वे क्षीर सागर के समीप जाकर मधुर वाणी में पुरुषसूक्त से तथा अन्यान्यसूक्तों से आपकी लम्बी चौड़ी स्तुति करते हैं, तब कहीं जाकर आपकी अरूपा-आकाशवाणी-सुनाई देती है। मैंने तो पूजा की कौन कहे, आप की स्तुति तक नहीं की। केवल स्तुति करने को प्रस्तुत ही हुआ था कि आपने अपनी अनुपम कृपा की यथेष्ट वृष्टि कर दी। जो कृपा आपने ब्रह्मादिक देवों पर, इन्द्रादिक लोकपालों पर भी नहीं की थी, वही मुझ असुराधम पर अनायास ही कर दी। मुझे आपने अपने दर्शनों से कृतार्थ कर दिया। आप सर्वेश्वर को किस वस्तु की कमी थी, किन्तु तो भी मेरे गौरव बढ़ाने के लिये आप भिक्षुक बने और मुझ अधम के सम्मुख आपने हाथ पसारा। हे प्रभो! आपके चरणों की सदा स्मृति बनी रहे, यही मेरी आप के पुनीत पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम पूर्वक प्रार्थना है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलि के ऐसे कोमल विनीत वचन सुनकर भगवान् वामन मुस्कराये और कृपापूर्वक उन्होंने महाराज बलि की ओर निहारा। अपने पौत्र पर प्रभु प्रसन्न हैं, वे उनकी कृपा के भाजन बन गये हैं यह सोचकर प्रह्लाद जी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे गद्गद् कंठ से भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके स्तुति करने लगे।

प्रह्लादजी ने कहा प्रभो ! आपकी कृपा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का नियम बनाना तो पृथक् रहा, कोई अनुमान भी नहीं कर सकता कि आप किस कारण, कब, किस, पर, कैसे कृपा करते हैं । भला, इस बात पर कोई कभी विश्वास कर सकता है कि चतुर्दश भुवनों को रचने-वाले चराचर जगत् के गुरु समस्त लोकों के पितामह भगवान् ब्रह्माजी भी जिनके पादपद्मों की प्रेमपूर्वक पूजा करते हैं, वे ही विश्वेश्वर हम अधमों के द्वारपाल बनेंगे ? हाथ में दण्ड लेकर दुर्ग की रक्षा करेंगे। मुझे तो इस बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि हम मे न कोई सामर्थ्य है न शक्ति, न साधन है न सदाचार, न विनय है न भक्ति, आपके चरण कमल की मधुमय मादक मकरंद पान करके ब्रह्मादिक देवता सृष्टि रचना आदि महान् कार्यों में समर्थ होते हैं, वह कृपा हमें ऐसे ही अनायास-बिना साधन भजन किये—पड़ी मिल गई। आपकी कृपा के सम्बन्ध में अब हम क्या कहें, हमारी बुद्धि काम नहीं करती। आपने इस चित्र विचित्र जगत् को अपनी अपरमित योग माया से अनायास ही खेल खेल में लीला से ही रच दिया है। ऐसे आप सर्वज्ञ सर्वात्मा समदर्शी की इतनी अकारण अधम असुरों पर ऐसी कृपा देखकर तो हमें संदेह हो रहा है। प्रतीत होता है आप हम असुरों के साथ पक्षपात करते हैं।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"प्रह्लादजी ! आपको मेरे समदर्शीपने में सन्देह हो रहा है क्या ?"

प्रह्लादजी ने कहा—हाँ महाराज ! सन्देह तो अवश्य हो रहा है, किन्तु फिर सोचता हूँ कि आप तो कल्पवृक्ष के समान

हैं, उसके साथ भी जिसका किसी भी प्रकार संसर्ग हो जाय उसका कल्याण ही कल्याण है। कल्पवृक्ष के नीचे तो जाना पड़ता है आप स्वयं ही अपने अनुचरों के समीप आकर अनुग्रह करते हैं। अतः समदर्शी होते हुए भी आप अपने आश्रित अधमों पर विशेष कृपा करते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब तो भक्त और भगवान् मे सन्धि हो गई। खेल समाप्त हुआ। तनातनी के व्यवहार का अन्त हो गया। अब तो स्नेह से घुलघुल कर बातें होने लगीं। शुक्राचार्य जी ने देखा ये तो दोनों परस्पर में मिल गये, मैं बीच में व्यर्थ ही बुरा बना। अकारण ही मैंने अपने आज्ञाकारी शिष्य को शाप दिया। सर्वान्तर्यामी प्रभु शुक्राचार्य के मनोगत भावों को ताड़ गये, अतः उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये बोले—'हे द्विजश्रेष्ठ! हे भार्गववंशावतंस हे ब्रह्मन्! मैंने आपके यज्ञ में आकर बड़ा विघ्न किया। आपके यज्ञ का कार्य अभी तक अधूरा ही पड़ा हुआ है। अब आप कृपा करके अपने इस शिष्य के अधूरे यज्ञ को विधि विधानपूर्वक पूरा कीजिये। इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हों उनका मार्जन कीजिये। अथवा आप वेदवादी विप्रों के रहते हुए त्रुटियाँ रह ही कैसे सकती हैं। विधि में, उच्चारण में, कर्म में, तथा स्वर सामग्री आदि में जो भी कुछ त्रुटि रह जाती है वह सब ब्राह्मण के देख देने से पूर्ण हो जाती है। अतः आप कृपा करके इस बलि के अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण कर दीजिये।"

शुक्राचार्यजी भगवान् के ऐसे विनीत वचन सुनकर बड़े लज्जित हुए। उनका हृदय भर आया। वे भर्राई हुई वाणी

से हाथ जोड़कर भगवान् से कहने लगे—"प्रभो ! यज्ञों में ब्राह्मणगण विधि विधानपूर्वक आपके निर्गुण निराकार रूप का पूजन करते हैं, किन्तु इस यज्ञ में तो आप स्वयं सगुण साकार रूप से समुपस्थित थे। आपको कोई प्रेम पूर्वक जल, फल, फूल तथा तुलसीदलमात्र ही अर्पण कर देता है तो उसी से आप उसके अशुभों को नाश कर देते है, फिर इस यज्ञ के यजमान ने तो अपना सर्वस्व समर्पित करके आपकी पूजा की। उस बलि के यज्ञ में त्रुटियाँ, विषमतायें कैसे रह सकती हैं। आप तो स्वयं परिपूर्ण हैं। परिपूर्ण के सम्मुख अपूर्णता का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। आपके तो नाम मे ऐसा प्रभाव है कि मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पात्र तथा सामग्री के सम्बन्ध से होने वाली समस्त त्रुटियों को वह उच्चारण मात्र से नाश कर देता है। फिर भी आप आज्ञा करते हैं तो मैं सब कार्यों को करूँगा, क्योंकि आपकी आज्ञा का ही नाम वेदवाक्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तब भगवान् की आज्ञा पाकर शुक्राचार्य ने ब्रह्मर्षियो के साथ मिलकर बलि के यज्ञ की त्रुटियों को पूर्ण किया। यज्ञ पूर्ण होने पर भगवान् ने प्रह्लाद जी से कहा—"हे वत्स ! तुम अपने पौत्र को लेकर सुतल लोक में चले जाओ, वहाँ आनन्दपूर्वक रहना।" फिर बलि से कहा—"हे वीरों में श्रेष्ठ ! विरोचननन्दन ! तुमने मुझे प्रसन्न करके सर्वस्व प्राप्त कर लिया है, तुम अभी से मुक्त हो, तुम मेरे नित्य पार्षद हुए। अभी इस मन्वन्तर तक तुम सुतललोक में स्वर्गीय सुखों को भोगो। फिर आगामी मन्वन्तर में मैं तुम्हें इन्द्र बनाऊँगा।"

बलि ने दीनता से कहा—"महाराज! मुझे अब इन्द्रा

नहीं चाहिये। मुझे तो आपके चरणों की भक्ति चाहिये।"

भगवान् ने दृढ़ता के साथ कहा—"भाई तुम्हें नहीं चाहिये तो मुझे तो चाहिये। मेरे भक्त के मन में यदि स्वप्न में भी कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो उसे मैं पूरी करता हूँ। तुम्हारे लिये तो इन्द्र पद तथा भृत्य पद दोनों ही समान हैं, जब तुम्हें मेरी प्राप्ति हो गई, तब संसार में दुर्लभ वस्तु क्या रह गई ? फिर भी मैं तुम्हें एक मन्वन्तर तक इन्द्र बनाकर तब नित्यधाम में पठाऊँगा।"

बलिने विनीत भाव से कहा—"प्रभो ! हम तो आपके यन्त्र हैं, जैसे चाहें घुमावें जैसे चाहें रखें। किन्तु यही प्रार्थना है कि आपके चरणों की हमें कभी विस्मृति न हो। हृदय में निरन्तर आपके दर्शन होते रहें।"

भगवान् ने कहा—"हृदय में ही नहीं भैया ! मैं तो तुम्हें नित्य प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। हाथ में गदा लिये हुए तुम्हारे पुर की रक्षा करता रहूँगा। जब भी तुम पुर में प्रवेश करोगे; मुझे वहाँ पहरे पर देखोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् की आज्ञा और आशीर्वाद पाकर महाराज बलि प्रह्लादजी को आगे करके और अपने बन्धु बान्धव और परिवार वालों के साथ पृथिवी के बिल से सुतल लोक में चले गये।"

छप्पय

पुनि हरि आयसु पाइ शुक्र मख पूर्ण करायो।
बलि वामन को सुयश बिहँसि बलिगुरु ने गायो॥
यों करि सरबसु दान दैत्यपति अति हरषाये।
जग बन्धन कूँ तोरि विष्णु आधीन बनाये॥
आगे करि प्रहलाद कूँ, जाति बन्धु सब संग लये।
रक्षक प्रभु वामन बने, सुतल लोक कूँ चलि दये॥

बलिके द्वारपाल वामन भगवान्

(५८१)

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादम्
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो—
विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥*
(श्री भा० ८ स्क० २३ अ० ६, श्लो०)

छप्पय

बलि के द्वारे द्वारपाल बनि बसैं जगत्पति।
बलि बिरुद्ध जे होहिँ करैं तिनकी ते दुर्गति॥
इकदिन रावन जाइ कहे बलि तैं बल गर्वित।
विष्णु विजय हौं करूँ कार्य कीयो जिन निन्दित॥
बलि बोले पितु पितामह, हरिनकशिपु हरि सँग लरे।
श्री नरहरि बनि विष्णु ने, हने कान कुन्डल गिरे॥

भगवान् इतने पवित्र हैं कि उन्हे यह सदा अशुचि रहने वाला। नवछिद्रों वाली देही में निवास करने वाला जीव जल

---

* प्रह्लादजी भगवान् से कह रहे हैं—प्रभो! जैसी कृपा इस बलि ने आपकी प्राप्त की है वैसी न ब्रह्माजी ने, न शिवजी ने और न लक्ष्मीजी ने ही प्राप्त की है, विश्व के लोग जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे ब्रह्मादिक देवताओं द्वारा जो आपके चरण पूजित हैं, ऐसे हम असुरों के आप दुर्गपाल हुए, यह कितने आश्चर्य की बात है।

और मिट्टी की शुचिता से चाहे कि प्राप्त कर सकें, तो असंभव है। भगवान् में इतने दिव्य सद्गुण हैं कि कोई यह अभिमान करे, कि मैं अपने गुणों से भगवान् को रिझालूँगा, अपने सदाचार से उन्हें वश में करलूँगा, तो यह असंभव है। भगवान् को गुणों के द्वारा कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। वे तो कृपा-वश्य हैं। करुणा के सागर हैं, सब जावों पर समान भाव से सदा कृपा की वृष्टि करते रहते हैं। वे साधन साध्य नहीं कृपा साध्य हैं। कृपा की प्रतीक्षा करते करते जिसका जब काल आजाय, जब जिसके ऊपर अनुग्रह की वृष्टि हो जाय। बिना छल कपट के जो अभिमान छोड़कर उनका शरण में जाता है, उसे वे अपना लेते हैं। अपना कृपापात्र कर लेते हैं। वे संसार में अपने सम्मुख गर्व किसी का नहीं रहने देते। बड़े-बड़े बलवानों को उन्होंने पछाड़ दिया। जो दीन होकर उनकी शरण में आगया, तो उनके तो वे रक्षक, प्रतिपालक और सेवक बन जाते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब महाराज बलि अपने सभी जाति बन्धुओं को लेकर सुतल लोक को चलने लगे, तो एक रूप से तो वामन भगवान् बलि के साथ चले और एक रूप से स्वर्ग में जाकर बलि से छीने हुए त्रैलोक्य के राज्य को पुनः देवताओं को दिया। महाराज बलि को भगवान् बाँधना चाहते थे, किन्तु उलटे ही बँध गये। अब तक उनके द्वार पर गदा हाथ में लिये हुए वे रक्षक बने खड़े रहते हैं। कोई बली महाराज बलि से लड़ने आता है, तो पहिले तो इन्हीं से मुठभेड़ होती है। इनकी रक्षा में रहकर महाराज बलि बड़ी प्रसन्नता के साथ सुतल लोक में आनन्द विहार करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कभी इन द्वारपाल

भगवान् का किसी से काम भी पड़ा है ? कभी किसी से इतना
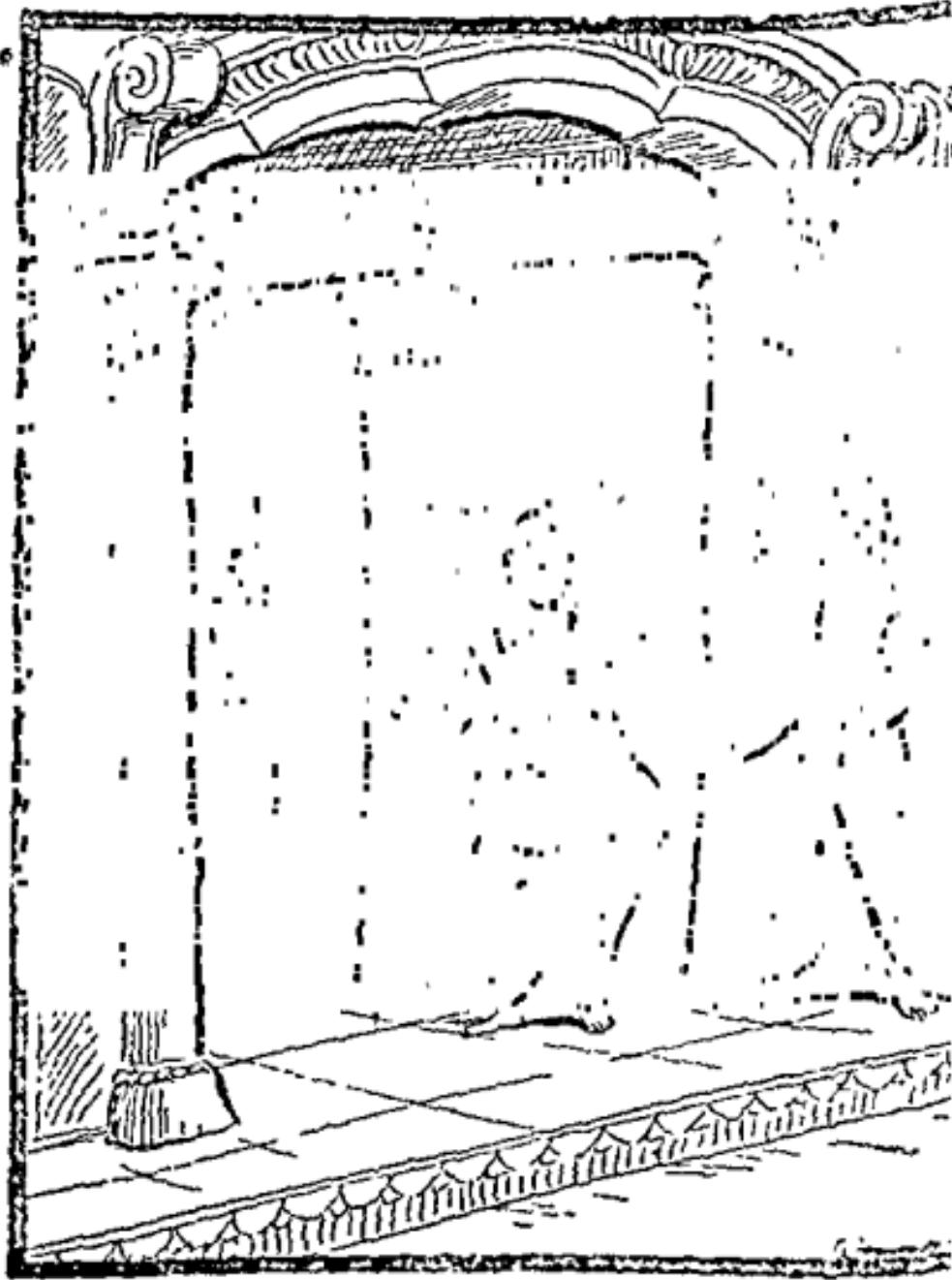
बलि के द्वार पर युद्ध भी हुआ है ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! इनसे युद्ध करने की सामर्थ्य किसमें है, एक बार रावण ने साहस किया था, उसे मुँह की खानी पड़ी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! रावण ने क्यों इनसे लड़ने का साहस किया और क्यों उसे मुँह की खानी पड़ी। इस वृत्तान्त को आप विस्तार के साथ बतावें; हमारी सुनने की इच्छा है।

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो बहुत बड़ी कथा है, किन्तु मैं संक्षेप में सुनाता हूँ, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

एक बार पाताल में दिग्विजय करते-करते रावण सुतल लोकों में पहुँचा। वहाँ उसने दूर से ही महाराज बलि के दिव्य भवन को निहारा। उन भवनों के चाकचिक्य तथा चमक दमक से चकित होकर रावण ने अपने मन्त्री से पूछा—"प्रहस्त ये इतने सुन्दर मनहर दिव्य भवन किसके हैं, भीतर जाकर तुम पूछो तो, सही, इनमें रहता कौन है ?"

यह सुनकर प्रहस्त भीतर गया। ६ ड्योढी लॉघ कर जब वह साँतवी पर पहुँचा तो वहाँ सूर्य के समान जाज्वल्यमान एक पुरुष को निहारा। वह अग्नि राशि के समान तेज मे प्रज्वलित हो रहा था। उसे देखकर प्रहस्त के तो रोंगटे खड़े हो गये। वह लौटकर रावण के समीप आया और भय से काँपते हुए वोला—"प्रभो ! भीतर तो लोहे का मुसल धारण किये हुए एक ऐसा व्यक्ति खड़ा है, जिसे देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये।"

यह सुनकर वीरभिमानी रावण हँसकर बोला—प्रहस्त ! तुम मेरे मंत्री होकर भी ऐसे डरते हो। अच्छी बात है मैं जाता हूँ।" यह कहकर रावण भीतर गया। वहाँ उसने भी उन तेज पुंज द्वारपाल को देखा, तो उसका भी शरीर मारे भय से थर थर काँपने लगा। सम्पूर्ण अङ्गों से पसीना निकलने लगा। फिर उसने धैर्य धारण करके लड़खड़ाती हुई वाणी में पूछा—"क्यों भाई ! इन महलों में भीतर कौन रहता है ? किसका यह निवास स्थान है।"

उस तेज से जाज्वल्यमान् व्यक्ति ने कहा—"हे राक्षसेश्वर इसके भीतर परमयशस्वी दानवीरशिरोमणि दैत्य दानवों के अधीश्वर महामनस्वी महाराज बलि निवास करते हैं। तुम क्या चाहते हो ? यदि तुम्हें युद्ध करने की इच्छा हो, तो पहिले मुझसे युद्ध करो, तब मेरे स्वामी के समीप जाना।"

रावण ने कहा—"नहीं, मैं तुम से युद्ध नहीं करना चाहता, मैं तो बलि के ही समीप जाऊँगा।"

उस व्यक्ति ने कहा—"अच्छी बात है, तो भीतर चले जाओ।" इतना सुनते ही रावण भीतर गया। वहाँ उसने असुरेन्द्र महाराज बलि को दिव्यासन पर बैठे हुए देखा। बलि ने रावण का बड़ा आदर सत्कार किया, कुशल पूछी। जो रावण सभी लोकपालों को जीतकर आया था उसे देखकर बलि को बड़ी प्रसन्नता हुई। बलि ने उसे प्रेम से उठाकर गोदी में बिठा लिया और बड़े स्नेह से पूछने लगे—"हे राक्षसेश्वर तुम क्या चाहते हो ? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

रावण ने कहा—"हे महानुभाव ! आप मातृकुल के सम्बन्ध से मेरे पूज्य हैं। मैंने ऐसा सुना है कि विष्णु वामन ने

छलकर आप का सर्वस्व अपहरण कर लिया और आपको बाँधकर पाताल पठा दिया। मैं उस विष्णु को रण में मारकर तुम्हें मुक्त करने के लिये आया हूँ! आप उस विष्णु को मुझे बता दें।

यह सुनकर महाराज बलि खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया! उन विष्णु भगवान् को रण में कौन जीत सकता है। वे तो अजेय हैं।"

अहंकार के स्वर में रावण ने कहा—"मैंने यम, कुबेर इन्द्रादि समस्त लोकपालों को जीत लिया है, आज तक रण में कोई भी मेरे सम्मुख ठहर नहीं सका है। आप मुझे विष्णु को बता दें, मैं उसे अवश्य ही जीतकर आपको बन्धन से मुक्त करूँगा।"

बलि ने कहा—"अच्छी बात है, एक काम करो। यह जो सम्मुख गोल गोल चमकीला चक्र सा रखा है उसे उठाकर मेरे पास तो ले आओ।"

यह सुनते ही रावण बड़े अहंकार से गया। उसने पूरी शक्ति लगाकर उस जाज्वल्यमान चक्र को उठाया, किन्तु टस से मस नहीं हुआ। तब उसे बड़ा दुःख हुआ। पूरी शक्ति लगा कर उसने जो झटका मारा कि रावण धड़ाक से धरती पर गिर पड़ा। मुख से रक्त बहने लगा। संज्ञा शून्य हो गया, आँख निकल आईं।"

तब तो महाराज बलि उसके समीप आये। उसे उठाकर अपने पास ले गये और बोले—"देखो, भैया! पूर्वकाल में मेरे पितामह के पिता एक बड़े तेजस्वी हिरण्यकशिपु थे। संसार में उनके समान बलवान् कोई नहीं था। उन्हें विष्णु भगवान् ने नृसिंह रूप रखकर खेलखेल में ही मार डाला था। उसके पेट को नखों

से ही विदीर्ण कर दिया था। उसी समय उनका मुकुट कहीं गिर पड़ा, कुण्डल कहीं गिर पड़ा। एक कुण्डल यहाँ पाताल में आकर गिरा। यह उन्हीं के कानों का कुण्डल है। इसे वे अपने कानों में पहिना करते थे। तुम कहते हो मैंने इन्द्र वरुण, कुबेर को जीत लिया है, यम को भी मैंने युद्ध में सन्तुष्ट किया है। जब तुम उस व्यक्ति के कुण्डल को भी नहीं उठा सकते, जिसे विष्णु ने विनोद में ही बिना अस्त्र-शस्त्र के—मार डाला है, तो तुम उनसे युद्ध क्या करोगे ?"

यह सुन कर रावण तो स्तम्भित रह गया। उसने पूछा—"वह विष्णु हैं कहाँ ?"

बलि महाराज बोले—"यह जो द्वारपर तुम्हें लोह की गदा लिये तेज पुंज पुरुष मिला था, ये ही साक्षात् श्री विष्णु हैं। तुम चाहें सहस्रों इन्द्रों को जीत लो, इनसे पार नहीं पा सकते। अपने घर लौट जाओ। मुझे मुक्त करने का प्रयास मत करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना सुनते ही महा अहंकारी रावण वामन भगवान् से युद्ध करने द्वार पर चला। भगवान् ने सोचा; यदि भूल में भी मेरा एक तमाचा लग गया, तो इस राक्षस का प्राणान्त होजायगा। (अभी इसे मारना मुझे अभीष्ट नहीं)। यह सोचकर भगवान तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

जब राक्षस ने देखा भगवान् तो यहाँ हैं ही नहीं। तब उसने बड़े वेग से सिंहनाद किया और ललकार कर बोला "मैंने सुतललोक को भी जीत लिया।" यह कहकर वह वहाँ से तुरन्त चला गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार रावण ने भगवान् के महान् बल पराक्रम का अनुभव किया। कहीं कहीं ऐसा भी

उल्लेख है कि वामन भगवान् ने अपने बायें अँगूठे की ठोकर से रावण को मारा जिससे वह सहस्रयोजन दूर जाकर गिर पड़ा। जिन भगवान् की स्वास से यह सम्पूर्ण चराचर विश्व उत्पन्न हो जाता है, उनके लिये असंभव बात कौन सी है। वे नाना रूप रखकर केवल विनोद के लिये ही नाना लीलायें करते रहते हैं। इस प्रकार भगवान् एक रूप से तो सदा सुतल-लोक में बलि के द्वार पर रहते है और एक रूप से स्वर्ग में इन्द्र के साथ तीनों लोकों का पालन करते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में वामन भगवान का चरित्र कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! बलि के पाताल चले जाने पर वामन भगवान् ने और क्या किया, इसे हमें सुनाइये।"

सूतजी वोले—"बलि से पृथिवी लेकर जिस प्रकार वामन भगवान् उपेन्द्र बने उसे मैं आपको सुनाऊँगा आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

मृतक असुर के प्रथम जाइ कुण्डलहिँ उठाओ।
तब उन हरि ते लड़न हेतु तिनके ढिंग जाओ॥
टसतैं मस नहिँ भयो, लगायो रावन बल सब।
हँसि बोले बलिवीर! विष्णु बल कछु समुझे अब॥
जा कुण्डल कूँ कान महँ, जे पहिनत ते हने हरि।
विजय प्राप्त कैसे करो, तिन प्रभुतैं तुम युद्ध करि॥

वामन प्रभु का उपेन्द्र पदपर अभिषेक

(५८२)

एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम्॥
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः॥❀

(श्री भा० ८ स्क० २३ अ० १९, २५ श्लो०)

छप्पय

बलि वामन को विजय चरित यह नृपवर ! गायो।
अब तक बलिको सुयश चतुर्दश भुवननि छायो॥
सुतल लोक बलि गये विष्णु नित वहाँ विराजें।
बलि वैभव कूँ निरखि अमर सुरपति हू लाजें॥
यौं बलि छलिके विष्णु ने, स्वर्ग राज्य देवनि दयो।
अदिति कामना पूर्ण करि, पुनि उपेन्द्र पदहू लह्यो॥

भक्तवत्सल भगवान् की अलौकिक लीलाओं में सर्वत्र भक्तवत्सलता ही छिपी है। उनकी समस्त चेष्टाओं में आश्रितों

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वामन हरि ने महाराज बलि से भूमि की भिक्षा माँगकर स्वर्ग का राज्य अपने भाई

की इच्छापूर्ति ही छिपी है। वे प्रभु संकल्प मात्र से सब कुछ करने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु वे साकार रूप रखकर उन लीलाओं को इसलिये करते हैं, कि वे चरित सदा गाये जायँ, जिन्हें भगवान् के सगुण साकार रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, वे इन चरित्रों को सुनकर कहकर ही इस दुस्तर संसार सागर से सफलता के सहित उस पार हो जायँ। जैसे कामियों को अनुकूल कामिनियों के चरित्र सुनकर रोमांचित हो जाते हैं, उनका चित्त तन्मय हो जाता है, जागृत तथा स्वप्नावस्था में भी उन्हीं का स्मरण बना रहता है, उसी प्रकार भक्त भगवत् चरित्रों को सुनकर भाव जगत् में उनका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, और उन्हीं का स्मरण बना रहने से वे तन्मय हो जाते हैं। अतः ससांर में यदि श्रवणीय कोई कथा है, तो वह अवतार कथा ही है। ये कथायें कानों को भी प्रिय हैं और पापों को नाशने में भी समर्थ हैं। अतः सदा सर्वदा श्रद्धा सहित सच्चिदानन्द के साकार स्वरूपों के चरित्रों का ही श्रवण मनन करते रहना चाहिये। यही पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन! इस प्रकार भगवान् वामन ने भिक्षुक बनकर बिना अस्त्र शस्त्र उठाये महाराज बलि को जीत लिया।

इन्द्र को पुनः दिया जिसे उनसे शत्रुओं ने छीन लिया था। इन्द्र भी त्रिभुवन का ऐश्वर्य पाकर तथा उपेन्द्र वामन भगवान् के बाहुबल से सुरक्षित होकर परम श्री से सम्पन्न और निर्भय होकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आप इसे विजय क्यों कहते हैं, छल कहिये। यह कुछ विजय थोड़े ही है।"

सूतजी यह सुनकर बहुत हँसे और बोले—"महाराज! ब्राह्मण वेष ही ऐसा है कि इसकी सदा विजय ही है। जिसने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, जो भिक्षुक बन गया है, उसकी क्या पराजय। कहावत है 'नंगा बड़ा परमेश्वर से' जिसने भिक्षा की लोई ओढ़ ली है, उसका कोई क्या कर सकता है। भगवन्! ब्राह्मण जीते पर भी जीता है और हारे पर भी जीता है। इस विषय में मैं आपको एक सत्य घटना सुनाता हूँ।

भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी में एक गुर्जर प्रान्तीय ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण पढ़े लिखे थे, परिवार बड़ा था, उन पर थोड़ी भूमि भी थी वहीं एक बड़े भूमिपति भी रहते थे। उनके गाँव के समीप ही इन ब्राह्मण देवता की भूमि थी। एक बहुत बड़ा बगीचा था। वास्तव में तो वह भूमिपति का था, किन्तु उस पर अधिकार ब्राह्मण का था। भूमिपति बड़े मनमौजी थे, वे भूमि सम्बन्धी कार्य देखते ही नहीं थे। सब नौकर चाकर काम काज देखते। पंडित जी से उनका बड़ा प्रेम था। किसी दिन एक प्रबन्धक ने भूमिपति से कहा—"महाराज! इन ब्राह्मण देवता ने आपके बगीचे पर अधिकार कर रखा है।"

हँस कर भूमिपति ने पूछा—"पंडितजी! कहिये बगीचा किसका है?"

पंडित जी ने दृढ़ता से कहा—"मेरा है महाराज!"

प्रबन्धक ने कहा—"आपका कैसे है, महाराज! राजद्वार खाते में तो हमारे महाराज का नाम लिखा है!"

पंडित जी ने कहा—"नाम किसी का लिखा हो, बगीचा है मेरा ही।"

हँस कर भूमिपति ने कहा—"तो, न्यायालय में अभियोग चलावें?"

पंडित जी ने कहा—"चलाइये महाराज! विजय तो मेरी ही निश्चित है।"

भूमिपति ने प्रबन्धक से कहा—"अच्छी बात है इन पर अभियोग चलाओ, कि हमारे बाग पर इन्होंने अधिकार जमा रखा है।"

प्रबन्धक तो यह चाहते ही रहते हैं, कि कुछ लड़ाई-झगड़ा होता रहे। अभियोग आरम्भ हो गया। पंडित जी प्रयत्न करने लगे। धन की आवश्यकता होती तो भूमिपति से ही माँगले जाते, हमें अभियोग के लिये चाहिये।

अन्त में न्यायालय से आज्ञा हुई कि बाग भूमिपति का है, उन्हें मिलना चाहिये। हँसकर भूमिपति ने पूछा—"पंडित जी! विजय किसकी हुई?"

पंडित जी ने दृढ़ता के साथ कहा—"मेरी हुई महाराज!"

भूमिपति ने हँसकर पूछा—"बगीचा किसका है पंडित जी!"

पंडित जी बोले—"जो आम खाय उसी का बगीचा है महाराज देख लीजियेगा आम कौन खाता है?"

भूमिपति ने आज्ञा दी उस बाग पर अपना अधिकार जमा लो। प्रबन्धकों ने बाग को अपने अधिकार में ले लिया।

दो तीन मास पश्चात् श्रावणी का दिन आया। पंडित जी रक्षा बन्धन लेकर भूमिपति के यहाँ पहुँचे। जाकर पंडित जी ने राखी बाँधी और यह मन्त्र पढ़ा—

> येन बद्धो बलिः राजा दानवेन्द्रो महाबलिः।
> तेन त्वां प्रति बध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

जैसे अन्य ब्राह्मणों को भूमिपति दे रहे थे, उन सब से अधिक १०।२० मुहर पंडित जी को देने लगे।

पंडित जी ने कहा—"नहीं महाराज! मुझे ये सुवर्ण की मुद्रायें नहीं चाहिये।"

भूमिपति ने हँसकर पूछा—"तो आपको क्या चाहिये, महाराज!"

पंडित जी ने कहा—"महाराज! मुझे तो मेरा बाग दे दीजिये।"

यह सुनकर भूमिपति हँस पड़े और बोले—"महाराज आपने तो सचमुच मुझे बाँध लिया। जाओ, बाग ही दिया।"

तब पंडित जी ने पूछा—"कहिये, महाराज! विजय किसकी हुई।"

हँसकर भूमिपति ने कहा—"अजी, पंडितजी! ब्राह्मण से कभी कोई जीत सकता है। उसकी तो जीते भी जीत और हारे भी जीत। विजय आपकी हुई आपकी।"

सूत जी कहते हैं—"सो, मुनियो! कैसे भी सही भगवान् ने तीनों लोकों का राज्य बलि से छीन तो लिया ही। शस्त्र बल से न छीना धर्म बल से छीन लिया। इस प्रकार बलि से सब

कुछ लेकर भगवान ने अपने सगे बड़े भाई इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य लौटा दिया। ब्राह्मण अपने लिये भिक्षा नहीं माँगता। उसे जो मिलता है, परोपकार में लगा देता है, दूसरों को तत्क्षण दे देता है। उसे तो सदा उन्हीं भिक्षा के टुकड़ों पर निर्वाह करना पड़ता है।"

महामुनि शुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं— "राजन्! जब इन्द्र फिर से स्वर्ग सिंहासन पर बैठने को हुए तब महादेवजी,सनत्कुमार, दक्ष, भृगु तथा अङ्गिरादि समस्त ऋषि, मुनि एकत्रित हुए। सभी देव, उपदेव, पितृगण, तथा राजे महाराजे वहाँ आये। वामन भगवान के माता पिता अदिति और कश्यप भी उस समारोह में समुपस्थित थे। उस भरी सभा में ब्रह्मा जी ने कहा—"उपस्थित महानुभावो! वामन भगवान् ने अपने बुद्धि बल से बलि का सर्वस्व ले लिया है। अतः आज से हम इन्हें ही समस्त लोकों का, लोकपालों का, सम्पूर्ण प्रजाओं का, वेदों का, देवों का, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल, व्रत तथा स्वर्ग और अपवर्ग का स्वामी बनाते हैं। बनाते क्या हैं, ये ही सबका पालन करने में सर्वथा समर्थ हैं। अतः इनको ही इन्द्र पद पर अभिषिक्त कर दो।"

भगवान् ने कहा—"हे वेद गर्भ! आप धर्म के मर्म को जानते हैं। आप ऐसी अनीति न करें। बड़े भाई के रहते छोटा सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है। मैं तो अपने सभी भाइयों में सबसे छोटा हूँ, इन्द्रासन पर तो मेरे बड़े भाई इन्द्र ही बैठ सकते हैं।

इन्द्र ने कहा—"प्रभो! आप सबसे बड़े हैं। आपको छोटा कौन कहता है? मैं तो इन्द्रासन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।"

वामन भगवान् बोले—"यह बात नहीं आप बड़े हैं आप ही इन्द्रासन के अधिकारी हैं, मैं सेवक बनकर आपकी रक्षा करूँगा। मेरी भुजाओं से पालित इस त्रैलोक्य के राज्य की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

ब्रह्मादिक देवताओं ने कहा—"तो भी, भगवन्! आप किसी पद को स्वीकार करें ही। बिना पदाधिकारी बने कार्य में ममत्व नहीं होता। यदि इन्द्र बनने में आपको आपत्ति है, तो सहकारी इन्द्र उपेन्द्र का ही पद आप कृपा करके स्वीकार कर लें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, आप सबका आग्रह है, तो मैं उपेन्द्र बन जाऊँगा।" उसी दिन से भगवान् इन्द्र के सहायक उपेन्द्र बन गये। भगवान् के उपेन्द्र बन जाने से सभी को परम प्रसन्नता हुई। संघ में प्रभाव शाली पुरुष चाहे छोटे पद को ग्रहण करें या बड़े पद को, जहाँ भी वे रहेंगे सर्वोपरि बनकर रहेंगे। अयोग्य पुरुष सभापति भी हो, मंत्री भी हो तो वह स्वतः कुछ न कर सकेगा, दूसरों के संकेत पर चलेगा। योग्य पुरुष चाहे सहायक, लिपिकार कुछ भी क्यों न हो, सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा। ये उपेन्द्र भगवान् कहने को तो इन्द्र से छोटे थे, किन्तु देवराज इन्द्र त्रिलोक का शासन उपेन्द्र भगवान् के बाहुबल से सुरक्षित होकर ही करते थे। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा समस्त लोकपाल निरन्तर उपेन्द्र भगवान् के यश का गान करके अपनी वाणी को धन्य बनाते हैं।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! यह मैंने परम पुण्यप्रद, सकल पापों को नष्ट करने वाला, यश

कीर्ति, धन-धान्य को बढ़ाने वाला, समस्त मनोगत कामनाओं को पूर्ण करने वाला वामन भगवान् का पवित्र चरित्र आपसे जैसा कुछ बना तैसा कहा। उन परात्पर प्रभु के पूर्ण चरित्र का कथन कौन कर सकता है। आकाश से गिरने वाली बूँदों की, समस्त पृथिवी के रज कणों की कोई गणना भले ही करले, किन्तु उन महामहिम महेश्वर की महिमा का पूर्ण वर्णन अब तक न किसी ने किया है, न आगे कोई करने में समर्थ ही होगा। यह चरित्र सबसे श्रेष्ठ है, इसे जो बार बार श्रद्धा सहित श्रवण करते हैं, प्रेमपूर्वक पढ़ते हैं, वे परमगति को प्राप्त करते हैं।

देव सम्बन्धी कर्मों में, पितृ सम्बन्धी श्राद्ध तर्पण आदि कर्मों में तथा मनुष्यों के यहाँ पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि शुभ संस्कारों के समय इस पवित्र चरित्र का जो कीर्तन करते हैं, वे सभी शुभकर्म सभी प्रकार से सफलता पूर्वक सम्पन्न होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे भगवान् ने वामन अवतार धारण किया वैसे ही उनके असंख्यों अवतार हैं। वे कभी मनुष्यों में अवतरित होते हैं, कभी देवताओं में, कभी पशु, पक्षी, जड़, चेतन जहाँ चाहते हैं वहीं अवतार ले लेते हैं। कभी जलचर और कभी नभचर बन जाते हैं। कभी लोक जुगुप्सित मछली का रूप रख लेते हैं, तो कभी कछुआ बनकर सलिल में किलोल करते रहते हैं।

इसपर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मैंने कच्छपावतार की कथा तो समुद्र मन्थन के प्रसंग में सुनी थी, किन्तु

मत्स्यावतार की कथा अभी तक विस्तार के साथ नहीं सुनी। प्रभो ! मैं तो अवतार कथा का ही रसिक हूँ। सम्पूर्ण लोकों को सुख पहुँचाने वाले इस मत्स्यावतार की कथा मुझे आप अवश्य सुनावें। मैं जानना चाहता हूँ कि भगवान् ने यह अत्यंत निंदित मत्स्य देह क्यों धारण की ? मछली बनकर भगवान ने कौन कौन से कार्य किये। सम्पूर्ण जीव तो कर्मबन्धनों में बँधे रहने के कारण ८४ लाख योनियों में विवश होकर जन्म लेते रहते हैं। भगवान तो कर्मबन्धनों से रहित हैं। उनके लिये न कुछ कर्तव्य है, न अकर्तव्य हैं फिर उन्होंने अत्यन्त तमोगुणी मत्स्य रूप क्यों धारण किया ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने जिस प्रकार भगवान् के मत्स्यावतार का वर्णन किया, उसे मैं आपके सम्मुख आगे कहूँगा। आप सब इस परम पुण्यप्रद यश श्री और सौभाग्य के बढ़ाने वाले चरित्र को श्रद्धाभक्ति के साथ श्रवण करें।

छप्पय

विविधि वेष वपु धारि विष्णु विश्वेश्वर बिहरें।
रहें सदा रवि किन्तु कहें नर सूरज निकरें॥
कच्छ, मत्स्य, वाराह, कबहुँ नरहरि तनु धारें।
साधुनि रक्षा करें दैत्य दानव खल मारें॥
लोक विनिन्दित मत्स्य तनु, लीलातें श्रीहरि धरयो।
प्रलय सलिल घूमत फिरें, गो द्विज, सुर कारज करयो॥

मत्स्यावतार का उपक्रम

(५८३)

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैवहि ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

बोले शुकतें नृपति—मत्स्य प्रभु चरित सुनावें ।
क्यों हरि ऐसे विश्व विनिन्दित वेष बनावें ॥
शुक हँसि बोले—भूप ! विष्णुघट-घट के वासी ।
वन्दित निन्दित कछु न विश्वपति अज अविनासी ॥
धेनु, विप्र, सुर, संत, अरु, वेदनि की रक्षा निमित ।
धर्म अर्थ रक्षित रहैं, धारैं तनु जगहित अजित ॥

सूर्य चाहे वधिक के घर में प्रकाश करें, या देवमंदिर में, वायु चाहे पुष्पों में विचरण करे, या सड़े-गले अस्थि मांस के टुकड़ों में अग्नि चाहे काष्ठ में व्याप्त हो चाहे मल मे, जिस प्रकार

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! श्री भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता साधु तथा वेदों की रक्षा के करने के निमित्त तथा धर्म और अर्थ की रक्षा के लिये नाना तनु धारण करते हैं ।

इन सब मे कोई विकार नहीं आता, ये सर्वदा विशुद्ध के विशुद्ध ही बने रहते हैं। उसी प्रकार निर्गुण, निराकार प्रभु छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची किसी भी योनि में अवतार क्यों न ले लें वे स्वयं उनके संसर्ग से उच्चता अथवा नीचता के लिए प्राप्त नहीं होते। दोष और गुण संसर्ग से होता है। संसर्ग सदा सजाति के साथ अपने योग्य न्यूनाधिक गुण वाले के साथ होता है। भगवान् तो निर्गुण हैं, उनका इन गुणों से रचित योनियों के साथ संसर्ग कैसे हो सकता है। अतः भगवान् किसी योनि में अवतार धारण कर लें, वे सदा भगवान् ही हैं। नाना योनियों में अन्तर्यामी रूप से तो वे सदा विचरण करते ही हैं। उनके बिना किसी की सत्ता नहीं, महत्ता नहीं, अवस्था नहीं, व्यवस्था प्रतिष्ठा नहीं, अस्तित्व नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब वामनावतार की कथा की समाप्ति पर महाराज परीक्षित् ने मत्स्यावतार का प्रश्न किया, और यह पूछा कि भगवान् ने लोक विनिंदित मछली का रूप धारण क्यों किया तो उसका उत्तर देते हुए भगवान् शुक राजा को अवतार रहस्य समझाने लगे।

श्री शुकदेवजी बोले—"राजन्! भगवान् के अवतार धारण करने का प्रधान कारण क्या है, इसे तो भगवान् ही जानते हैं, किन्तु साधारणतया भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद तथा धर्म और अर्थ की रक्षा के निमित्त शरीर धारण करते हैं। -

भगवान् इस जगत् की ब्रह्मा बनकर रचना करते हैं, इसी लिये मरीचि, अत्रि, अंगिरा, आदि प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। ये ब्रह्मपुत्र प्रजापति सम्पूर्ण सृष्टि

को उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न की हुई सृष्टि का भगवान् विष्णु बनकर पालन करते है, अतः अंशावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार, ज्ञानावतार, आवेशावतार, कलावतार, तथा पूर्णावतार आदि अनेक अवतार रखकर श्रीहरि इस जगत् में क्रीड़ा करते, विश्व का पालन करते हैं। विश्व का पालन गौ के बिना हो नहीं सकता। गौ के दो रूप हैं। पृथिवी रूप से तो वह सब को अपने ऊपर धारण करती है और कामधेनु रूप से प्राणियों का इस लोक तथा परलोक में कल्याण करती है। गौका रोम रोम पवित्र है। उसका गोरस अमृत है। मूत्र, पुरीप सभी पापों को नाश करने वाला है, उसके दुग्ध से प्राणियों का पोषण होता है। परलोक में जहाँ कोई भी सगा सम्बन्धी, धन, वैभव नहीं जा सकता, जिस वैतरिणी नदी को प्राणी किसी प्रकार पार नहीं कर सकता, वहाँ भी इस गौकी ही पूंछ पकड़कर पार होता है। उन गौओं पर जब क्रूरकर्मा पुरुष अत्यधिक अत्याचार करते हैं, तब भगवान् अवतार लेकर गौओं के दुखों को दूर करते हैं।

ब्राह्मण भगवान् के दूसरे रूप ही हैं, वे भगवान की वाणी वेद को पवित्रता के साथ धारण करते हैं। संसार में आसक्त प्राणियों को ज्ञान का पाठ पढ़ाते है। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञानालोक दिखाकर सन्मार्ग पर लगाते हैं। यज्ञ योगों को कराते हैं, उन्हें पूजा प्रदान करके सन्तुष्ट करते हैं, पूजित हुए देव वृष्टि करते हैं अन्न होता है, उसे प्राणी खाते हैं अन्न खाकर प्राणी जीवन धारण करते हैं। अतः सृष्टि रक्षा के लिये ब्राह्मणों की रक्षा अत्यावश्यक है।

देवता दिव्य गुणों को धारण करते हैं। यज्ञ भाग ग्रहण करके प्राणियों को सुख प्रदान करते हैं। पुष्पों का उपभोग करते

हैं, दैवी सम्पत्ति का प्रसार करते हैं। चराचर विश्व में अधिष्ठातृ देव से निवास करते हैं। अतः देवताओं से धर्म द्वारा जगत् की रक्षा होती है। देवता नहीं तो धर्म नहीं। धर्म नहीं तो जगत् नहीं।

स्वर्ग में इन्द्रादि देव हैं और पृथिवी में साधु ब्राह्मण देवता हैं। साधु पुरुष ही धर्म को धारण करते हैं, वेद धर्म के मार्ग को बताते हैं। अर्थ काम के उपभोग की व्यवस्था बताते हैं। इसीलिये भगवान् निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। निराकार से साकार रूप रख लेते हैं। नाना योनियों में अवतार रखकर क्रीड़ा करते हैं और जीवों को अपने देव दुर्लभ दर्शन से कृतार्थ करते हैं। भगवान् के मुख्य हेतु है भक्तों के ऊपर अनुग्रह करना, उन्हें अपने दुर्लभ दर्शन देकर संसार सागर से मुक्त करना। वे अवतार धारण करके दो ही कार्य करते हैं, जब धर्म निर्बल क्षीण हो जाता है, तो उसे सबल बनाने के निमित्त दुष्टों का संहार करते है, साधुओं की रक्षा करते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करते हैं, यह तो भगवान् अच्छा ही करते हैं, किन्तु इस काम को तो वे बिना अवतार लिये अपने संकल्प मात्र से कर सकते हैं, इसके लिये भगवान् को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है। इसी के लिये निर्गुण से सगुण होना, निराकार से साकार होना यह तो उचित नहीं।

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! श्रीहरि तो साकार भी हैं, निराकार भी हैं, सगुण भी हैं निर्गुण भी। वे निर्गुण से सगुण बनते हैं या निराकार से साकार रूप रखते हैं, यह

कहना भ्रममात्र है। वे तो अखिल दिव्य गुणों के एकमात्र आश्रय नित्य साकार और सदा मूर्तिमान् रहते हैं। साधु रक्षण और असाधु विनाश कार्य वे संकल्प मात्र से अवश्य कर सकते हैं, किन्तु फिर भी वे करुणावश अवतार लेते हैं। भगवान इतने कारुणिक हैं, प्राणियों के इतने सहज सुहृद् हैं कि जीवों का दुःख उनसे देखा नहीं जाता, बिना अवतार लिये उन पर रहा नहीं जाता। यह उनके अतिशय करुणा का ही द्योतक है। इस विषय में मैं आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

प्राचीन काल में एक बड़े तार्किक राजा थे। उनका एक ब्राह्मण मंत्री बड़ा ही बुद्धिमान् था। वे उससे भाँति भाँति के तर्क किया करते थे। एक दिन राजा ने पूछा—"मंत्री जी! भगवान् स्वयं अवतार क्यों धारण करते हैं, यदि उन्हें धर्म की ही रक्षा करनी है, दुष्टों को ही मारना है तो अपने किसी पार्षद को शक्ति देकर भेज दिया करते। इन कामों को तो उनके सेवक ही कर सकते थे। अब देखिये, हमें किसी बड़े राजा से सन्धि-विग्रह करनी होती है तो हम स्वयं थोड़े ही दौड़े जाते हैं। अपना प्रतिनिधि दूत भेज देते हैं। कोई हमारे ऊपर चढ़ाई करता है तो हम स्वयं ही लड़ने तो जाते नहीं। सेनापति उन्हें जीत लेता है। नाम हमारा होता है। इसी प्रकार भगवान् को भी यह कार्य दूसरों से कराना चाहिए था। स्वतः क्यों विविध वेष बनाकर अवनि पर अवतरित होते हैं?

इस प्रश्न को सुनकर मन्त्री ने कहा—"महाराज! मैं कुछ काल पश्चात् इसका उत्तर दूँगा।"

राजा के एक इकलौता पुत्र था। राजा उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था। राजसभा से बीच में उठ कर पुत्र

को देखने जाता। उसके प्रति उसका अत्यधिक ममत्व था। सदा गोद में लेकर उसे खिलाता रहता। मन्त्री ने मोम की एक उस राजकुमार के अनुरूप एक सुन्दर मूर्ति बनाई। उस पर ऐसा रंग किया गया कि वह सर्वथा सजीव राजकुमार ही प्रतीत होता था। राजकुमार के जितने वस्त्राभूषण थे वे उसे पहिना दिये थे ? अन्तःपुर की एक दासी को मन्त्री ने मिला रखा था।

एक दिन राजा एक राजोद्यान के सुन्दर सरोवर के तीर पर मंत्री के सहित बैठे थे। सरोवर में बहुत जल था, कमल खिल रहे थे, रंग विरंगी मछलियाँ इधर से उधर फुदक रही थीं। उसी समय मंत्री ने उस सिखाई पढ़ाई दासी से कहा— "जाकर अन्तःपुर से राजकुमार को ले आओ।"

दासी को तो सब पहिले ही समझा दिया था, वह यथार्थ राजकुमार को न लाकर उस कृत्रिम राजकुमार को ले आई। मन्त्री ने पहिले ही बड़े उल्लास से कुमार को गोदी में ले लिया। कुछ काल तक तो उसे खिलाते रहे, फिर इधर उधर प्रेम पूर्वक हिलाते रहे। राजा बड़े प्रसन्न हो रहे थे। कोई किसी के बच्चे को प्यार करता है, तो माता पिता को बड़ी प्रसन्नता होती है। अतः राजा आनन्द में विभोर हो रहे थे, उसी समय मन्त्री ने उस बच्चे को उठाकर सरोवर में फेंक दिया। राजा तो घबड़ा गये। तुरन्त कपड़ों सहित सरोवर में कूद पड़े। झपट कर बच्चे को उठा लिया।

मन्त्रीजी किनारे पर ही खड़े खड़े हँसते हुए कह रहे थे—"महाराज ! महराज ! यह आप क्या कर रहे हैं। इतने सेवक समीप में काम कर रहे थे, उनमें से किसी को भी बुलाकर आप आज्ञा दे देते। आप स्वयं सरोवर में क्यों कूद··

मैं स्वयं आपका सेवक समुपस्थित था, मुझे ही आज्ञा हो जाती।"

राजा ने देखा, कि राजकुमार यथार्थ नहीं हैं वह तो उसकी प्रतिमा है तब तो उन्हें बड़ा संताप हुआ। क्रुद्ध होकर मन्त्री से बोले—"मन्त्री! तुमने ऐसी धृष्ठता मेरे साथ क्यों की ?"

मन्त्री ने कहा—"अन्नदाता। उस प्रश्न का उत्तर देने के लिये मैंने यह सब किया था, जो आपने मुझसे पूछा था कि भगवान् स्वयं अवतार क्यों लेते हैं। अपने किसी पार्षदों को क्यों नहीं भेज देते ?" महाराज! जिससे अधिक स्नेह होता है, उसका कार्य स्वयं ही करने में सुख होता है। दूसरों की कराई हुई सेवा से प्रेमी को संतोष नहीं होता। स्वयं अपने हाथों से खिलाने में स्वयं चरण सेवा करने मे जो सुख होता है, वह सेवकों द्वारा कराने में कहाँ प्राप्त हो सकता है। भगवान् के सबसे प्यारे भक्त हैं। भक्तों की रक्षार्थ श्री हरि स्वयं ही अवतरित होने को विवश हो जाते हैं। आपही देखें, आपकी एक वाणी सुनकर सहस्रों पुरुष आ सकते थे, सरोवर मे कूद सकते थे, किन्तु पुत्र स्नेह के कारण आप पर बैठा न रहा गया। आप स्वयं ही कूद पड़े। भगवान् अपने भक्तों पर करुणा करके ही अवतार लेते हैं। भक्तों की टेर सुनकर उनसे वैकुन्ठ में रहा नहीं जाता, तुरन्त वे अवनि पर उतर आते हैं और भक्तों को सुख देकर धर्म की स्थापना करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"भगवन्! करुणा करके अवतरित होते हैं, यह तो उनकी भक्त वत्सलता ही है, किन्तु उन्होंने मछली का ही रूप धारण क्यों किया? यह शरीर तो तमोगुण प्रधान अत्यन्त निन्दित और लोकों के भक्ष्य है।"

सूतजी बोले—"महाराज, मैं अनेक बार तो बता चुका हूँ, भगवान के लिये न कोई ऊँचा, न नीचा, उनकी जब जिस योनि में उत्पन्न होने की इच्छा होती है, तब उसी योनि में उत्पन्न हो जाते हैं। जीव प्रायः कर्मों के अधीन होकर नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। इन जीवों में से बहुत से अनुग्रह सृष्टि के भी जीव होते हैं। उनका संसार बन्धन भगवान् के दर्शन करने मात्र से ही छूट जाता है। उन्हें ८४ के चक्कर में फँसना नहीं होता। वे आरोहण अवरोहण क्रम के अपवाद होते हैं। प्रतीत होता है, उस समय बहुत से अनुग्रह सृष्टि के जीव जलचर देह में रहकर निवास करते थे, उन्हें भगवान् के मनुष्य रूप में दर्शन कैसे हों। इसी लिये भगवान् स्वयं जलचर बन गये। मछली के देह में जाकर भगवान् उसके सुख दुख से सदा निर्लिप्त ही बने रहे। जैसे किसी राजा के बहुत से मित्र किसी अपराध से राजकर्मचारियों द्वारा पकड़कर कारावास में बन्द कर दिये गये हैं। राजा को जब समाचार मिला, स्वयं कारावास में पहुँच गया। उन्हें छुड़ा लाया। कारावास में जाने पर उसे कारावास के कष्ट सहन नहीं करने पड़े। वह उनसे निर्लिप्त हो बना रहा कारावास में जाने पर भी वह सभी बन्दियों को नहीं छुड़ा लाया। जिस पर उसकी करुणा की दृष्टि हो गई, जिस पर रीझ गया, उसे साथ लेता आया। शेष सब उसी चक्कर में कर्मानुसार पिसते रहे। अतः भगवान अपने आश्रित जलचर भक्तों के निमित्त मछली बने होंगे। फिर उन्हें सप्तर्षियों की भी रक्षा करनी थी, पृथिवी के बीजों को भी बचाना था। असुर द्वारा हरे हुए वेदों का भी उद्धार करना था इन्हीं सब कारणों से भगवान ने मत्स्यावतार धारण किया। द्रविड़ देश के

महाराजा सत्यव्रत पर भी अपने अनुग्रह की वृष्टि करनी थी। आगामी कल्प की भी सृष्टि करनी थी। क्षय हुए धर्म की भी वृद्धि करनी थी, इसीलिये भगवान् जलचर बने।

भगवान् का धर्म ही रूप है। धर्म जब क्षय हो जाता है, तो उसकी वृद्धि के लिये, वेदों का उद्धार करने के लिये भगवान् स्वयं अवतार धारण करते हैं। धर्म उनका शरीर है, वे धर्म के विग्रह हैं। एक बार भगवान् धर्म के पुत्र बनकर नर नारायण रूप से भी अवतरित हुए हैं। वे धर्म का सर्वथा क्षय नहीं देख सकते। जब जिस प्रकार के धर्म की स्थापना करने की आवश्यकता समझते हैं, तब तैसा ही रूप रख लेते हैं। इसीलिये प्रत्येक युग के अन्त में युगावतार मन्वन्तर के आदि मे मन्वन्तरावतार और कभी विशेषावतार धारण करके धर्म की स्थापना करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब धर्म नित्य है भगवान् का विग्रह ही है, सनातन है, तो फिर उसका क्षय क्यों होता है, वह घटता बढ़ता क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! धर्म को पतिव्रता का शाप हो गया था, इसीलिये चन्द्रमा की भाँति उसका क्षय होता रहता है। क्षय तो क्रमशः होता है, किन्तु उसकी वृद्धि एक साथ हो जाती है। इसीलिये घोर कलियुग के पश्चात् शुद्ध सत्ययुग हो जाता है।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब धर्म अक्षय और और सनातन है तो उसे किसी का शाप कैसे लग सकता है ?" यह तो संदेह की बात है।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! काहे की संदेह की बात है। आप सब जानते हैं। यह सब

भगवान् की क्रीड़ा है। धर्म की बात तो पृथक् रही, स्वयं साक्षात् भगवान् को भी शाप वश अवतार धारण करना पड़ता है। भृगु ऋषि ने क्रुद्ध होकर भगवान को शाप दिया था, कि आपको पृथ्वी पर भिन्न भिन्न योनियों में १० अवतार धारण करने पड़ें। उसी शाप का फल भगवान् भोग रहे हैं। यद्यपि भगवान् को शाप कौन दे सकता है, वे तो कर्म बन्धनों से सर्वदा विमुक्त हैं, फिर भी खेल के लिये, संसार चक्र को चलाने के लिये वे शाप को ग्रहण करते हैं। अपनी इच्छा से प्रेरणा करके शाप दिलाते हैं फिर उसी के अनुरूप लीलायें करते हैं। इसी प्रकार धर्म को भी भगवान को इच्छा से चारों युगों की कल्पना कराने के लिये भगवान् ने पतिव्रता से शाप दिला दिया।

शौनकजी ने यह सुनकर सूतजी से पूछा—"सूतजी! धर्म को किस पतिव्रता ने किस कारण शाप दिया पहिले इस कथा को सुनाकर तब भगवान् की मत्स्यावतार की कथा आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं तुम्हें धर्म की शाप की कथा सुनाता हूँ, उसे आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

धर्म मूल भगवान् धर्म धरनी कूँ धारें।
जग महँ होहि न धर्म मातु संतति कूँ मारें॥
दृढ़तर रक्षित धर्म करै रक्षक की रक्षा।
लै कें हरि अवतार धर्म की देवै शिक्षा॥
सत्य सनातन धर्म की, प्रभु युग युग रक्षा करत।
जलचर थलचर गगनचर, धर्म हेतु हरि तनु धरत॥

धर्मको क्षयिष्णु होने का शाप

(५८४)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ५६ श्लो०)

छप्पय

प्रथम एक रस रह्यो धर्म सतयुग ही होवे ।
किन्तु कपट व्यवहार नित्यता नर की खोवे ॥
पिप्लादि मुनि पत्नि परीक्षा लई धर्म जब ।
कहे अटपटे वचन सती अति क्रुद्ध भई तब ॥
पतिव्रता के शापवश, धर्म वृद्धिक्षय युत भये ।
त्रेता, द्वापर, सत्य, कलि, तबई तै युग बनि गये ॥

नित्य प्रभु को लीला भी नित्य है, उनका रचा जगत् नित्य है, उनकी क्रीड़ा भी नित्य है। फिर गुणमयी माया के संसर्ग होने से अज्ञान वश अनित्य को नित्य समझकर प्राणी नित्यता

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस संसार में जब जब धर्म का क्षय हो जाता है और पाप की वृद्धि हो जाती है, तब तब सब के स्वामी श्रीहरि भगवान् अवनि पर अवतरित होते हैं ।

से दूर होकर क्षयिष्णु सा बन जाता है। यह संसार उन सर्वात्मा प्रभु की क्रीड़ा भूमि है, उनकी रंगशाला है, इसमें वे नाना प्रकार का अभिनय करते रहते हैं। उनके विनोद के अतिरिक्त इस जगत् की कुछ भी सत्ता नहीं। वे नाना रूप रखकर नाना क्रीड़ायें करते हैं। समस्त घटनाओं को जो भगवान की लीला समझते हैं, वे सुखी रहते हैं, जो इनको अन्यथा समझते हैं वे भ्रम में पड़ते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे धर्म को क्षयिष्णु होने का शाप क्यों मिला इस विषय की कथा पूछी थी, मैं उसे आपको सुनाता हूँ। महाराज मनु के वंश में एक अनरण्य नामक बड़े तेजस्वी प्रतापवान तथा धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। वे राजर्षि अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। महाराज के १०० पुत्र थे, किन्तु उनके कोई कन्या नहीं थी। मुनियो! आप लोग तो जन्म से ही घर गृहस्थी से दूर रहे हो। आप तो कभी गृहस्थ के झंझट में फँसे ही नहीं। गृहस्थियों के यहाँ कन्या की अपेक्षा पुत्र उत्पन्न होने पर अधिक प्रसन्नता होती है। यही नहीं, किन्तु कई बार पुत्रों हो पुत्री उत्पन्न हों तो विषाद भी होता है। फिर भी सभी को इच्छा होती है एक दो कन्या हमारे यहाँ अवश्य हों। शास्त्रों में भी कन्यादान को सब दानों में श्रेष्ठ बताया है। पुत्र यदि योग्य हुआ तो अपने कुल की ही कीर्ति बढ़ावेगा, किन्तु कन्या यदि योग्य पतिव्रता हुई तो वह मातृकुल पितृकुल और पतिकुल तीनों ही कुलों की कीर्ति को विमल बनाती है। इसलिये सभी सद् गृहस्थ भाग्यवती कन्या की इच्छा करता है। महाराज अनरण्य के पुत्र तो १०० थे, किन्तु उनके कोई कन्या नहीं थी। इसलिये राजा रानी चाहते

थे, हमारे अब के कन्यारत्न का जन्म हो। स्त्रियों को जितना सुख जामाता को भोजन कराने में होता है, उतना पुत्र को भोजन कराने में भी नहीं होता। भगवान् ने राजा रानी की इच्छा पूर्ण की। अब के उनके यहाँ कन्या का जन्म हुआ कन्या भी ऐसी वैसी नहीं साक्षात् लक्ष्मी के समान वह सुन्दरी थी। उसके अङ्ग प्रत्यंग इतने सुन्दर थे कि जो भी देखता, उसी का मन मुकुरखिल जाता। चंपा की कलिका के समान, साकार सुन्दरता मूर्तिमती शोभा के समान वह कन्या थी। राजा रानी तो अनुपम रूप लावण्य युक्त कन्या को पाकर परम प्रसन्न हुए। शुक्ल पक्ष के चन्द्र की कला के समान, शरद्काल की कमलिनी के समान वह राजमहल में बढ़ने लगी। वह कन्या ज्यों ज्यों बढ़ती थी त्यों त्यों उसका सौन्दर्य और बढ़ता तथा निखरता जाता था। उसे साक्षात् पद्महस्ता लक्ष्मी के समान समझकर माता पिता तथा पंडित पुरोहितों ने उसका नाम पद्मा रख दिया था। यथार्थ में वह पद्मा ही थी। बाल, पौगंड और किशोरावस्था को पारकरके पद्मा ने यौवनावस्था में प्रवेश किया। यौवन में पदार्पण करते ही उसके अंग प्रत्यंग से आभा फूट फूट कर निकलने लगी। उसकी वाणी में, चाल में चितवन में, हँसन में तथा समस्त क्रियाओं में एक प्रकार का विचित्र परिवर्तन हो गया। माता पिता ने जब अपनी प्राणों से भी प्यारी पुत्री को युवावस्थापन्न देखा, तो उन्हें उसके अनुरूप पति की चिन्ता हुई। राजा रानी की इच्छा थी, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दर किसी परम पराक्रमी राजकुमार के साथ इसका विवाह किया जाय। इसके लिये उन्होंने देश देशान्तरों के राजाओं के यहाँ दूत भेजे। राजा के समीप आकर बहुत से राजाओं ने यहाँ तक कि देवताओं

ने भी आकर—पद्मा के लिये प्रार्थना की किन्तु महाराज ने भी कह दिया—" मेरी पुत्री मर्त्यलोक की है, अतः मैं मर्त्य-लोक के किसी सर्वश्रेष्ठ वर के साथ इसका विवाह करूँगा। अब राजा को सोते, जागते, उठते, बैठते, एक ही चिन्ता थी कि मेरी पुत्री के लिये कोई योग्यवर मिले, किन्तु जैसा वे चाहते थे, वैसा राजकुमार अभी तक उन्हे कोई मिला नहीं। इसीलिये राजा रानी कुछ अधिक चिन्तित रहने लगे।

उन्हीं दिनों महाराज के राज्य में दधीचि मुनि के पुत्र महा-मुनि पिप्पलाद घोर तपस्या कर रहे थे। दधीचि मुनि ने जब देवताओं के कार्य के लिये जीवित ही अपना शरीर समर्पित कर दिया, तब ये महामुनि अपनी माता के गर्भ में थे। दधीचि मुनि की पत्नी को पति की स्वेच्छा मृत्यु पर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपने पेट को विदीर्ण करके गर्भस्थ बालक को पीपल के पेड़ के नीचे रख दिया और वे अपने पति के साथ सती हो गई, पीपल के पेड़ों के अधिष्ठातृ देवों ने बालक की रक्षा की। पीपल के फल खाकर ही वे बड़े हुए, इसीलिये वे पिप्पलाद के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे हजारों वर्षों तक बड़े बड़े कठोर नियमों का पालन करते हुए तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते वे बूढ़े हो गये थे। उन्होंने न विवाह किया, न गृहस्थ धर्म का अनुभव ही, जीवन भर वे तपस्या ही करते रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस मनका विश्वास नहीं, कब कहाँ फिसल जाय। इसीलिये जब तक जीवन है, तब तक इस मन का कभी विश्वास न करे कि हमने इसे वश में कर लिया। जैसे दस्यु का विश्वास नहीं किया जाता, वैसे ही अविश्वसनीय यह मन है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है,

कि अब यह सर्वथा वासना रहित हो गया। फिर न जाने कहाँ से विषयों के सम्मुख होते ही यह चंचल हो उठता है और विवेक को दबाकर जीवों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। पिप्पलाद मुनि बड़े जितेन्द्रिय तथा धैर्यवान थे, किन्तु प्रारब्धवश मनने उनके साथ विश्वासघात किया। एक दिन वसंत की वेलामें वनसे पुष्प, फल, मूल, समिधा, तथा कुशाओं को लेकर मुनि अपने आश्रम को लौट रहे थे, इतने ही में उन्होंने क्या देखा कि एक गन्धर्व अपनी बहुत सी अत्यंत सुन्दरी गन्धर्वियों के साथ नदी तट पर बैठा था। कल कल करती हुई स्वच्छ सलिलवाली सरिता द्रुत गति से वह रही थी। पर्वत की उपत्यका में हरी हरी दूब चारों ओर जमी हुई थी। सभी छोटे बड़े वृक्ष फल और पुष्पों के भार से नमित थे। मन्द सुगन्धित, सुखकर समीर वह रही थी, चारों ओर की फूली हुई लतायें हिल रही थीं। वे गन्धर्वियों उस गन्धर्व की अत्यंत स्नेह से सेवा कर रही थीं, वे अपना सर्वस्व समर्पित करके स्नेह भरित हृदय से उसकी उपासना कर रही थीं। वह भी उन पर अत्यंत स्नेह से अपना समस्त प्रेम उड़ेल रहा था। कोई गा रही थी, कोई नाच रही थी, कोई उसके चरणों को शनैः शनैः दबा रही थी, किसी की गोदी में सिर रखकर वह सो रहा था। कोई उसे अत्यंत स्नेह से निहार रही थी, कोई अपने अंग-वस्त्र से उसकी वायु कर रही थी। वह भी अपने आपको भूले हुए उनके अनुराग में आत्म विस्मृत बना अपने को सब से अधिक सुखी अनुभव कर रहा था। वहाँ दोनों ओर से अनुराग की बाढ़ सी आ रही थी।

महामुनि पिप्पलाद ने दूर से ही उनकी कमनीया कामक्रीड़ा को देखा। मन अटक गया, पैरों ने सत्याग्रह कर दिया। चित्त

चंचल हो उठा। मुनिने सोचा जीवन भर कठोर नियमों का पालन किया, न कभी पेट भरकर भोजन किया, न कभी हँसकर किसी से दो बातें की। कठोर नियमों के वन्धन में फँसकर हमारा तो हृदय भी पत्थर के समान हो गया। हममें और इन पर्वत खंडों मे क्या अन्तर है। जिस हृदय में सरलता नहीं वह तो लोहसार है, पाषाण है, निर्जीव है। इतने दिन तपस्या में मुझे कभी ऐसा आनन्द नहीं आया, जैसा इन लोगों की क्रीड़ा देखने मे आ रहा है। क्यों न मैं भी इस गृहस्थ धर्म के आनन्द का अनुभव करूँ। बहुत दिन तिक्तकषाय कच्चे फल खा खाकर तपस्या की, अब कुछ सरलता का भी तो अनुभव करना चाहिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! हृदय जितना ही निर्विकार होता है, उसमें इच्छा उत्पन्न होने पर उतनी ही अधिक तीव्र प्रतिक्रिया भी होती है। मुनिने समिधाओं का गट्ठर पटक दिया। कुशाओं को फेंक दिया। फल फूलों को बखेर दिया और अब वे चले विवाह की खोज में। चलते चलते आगे उन्हें पुष्पभद्रा नामक नदी मिली। वह बड़ी ही वेगवाली पतली बालिका के समान द्रुतगति से बहने वाली नदी है। दैवयोग से उस दिन कोई पर्व था। पद्मा अपनी सखियों के सहित पुष्पभद्रा में स्नान करने आई थी। भाग्यवश मुनि की दृष्टि उस राजकुमारी के ऊपर पड़गई। उसके अनवद्य सौन्दर्य तथा अनुपम रूप लावण्य को देखकर मुनि तो मन्त्रमुग्ध की भांति उसे देखते के देखते ही रह गये। ऐसा सौन्दर्य उन्हें सुरललनाओं में भी देखने को नहीं मिला था। आज तक इतनी सुन्दरी स्त्री उन्होने देखी ही नहीं थी। मुनि ने राजा के सेवक

अनुचरों से उस राजकुमारी का परिचय प्राप्त कर लिया और

यह भी जान लिया कि यह अभी अविवाहित है। फिर क्या

था, सीधे धड़ धड़ाते हुए महाराज अनरण्य की राजसभा में मुनिवर पहुँच ही तो गये।

राजा ने महामुनि पिप्पलाद को आते देखा, तो वे सहसा अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये, उन्होंने पाद्य, अर्घ्य मधुपर्क आदि से मुनिकी पूजा की। फिर अनेक प्रकार के स्तुति वचन कहकर मुनि के आगमन का कारण जानना चाहा। राजा ने कहा—"मुनिवर! हम अधम गृहस्थियों को कृतार्थ करने ही महत् पुरुष पर्यटन करते रहते हैं। आपने अपने इस सेवक पर बड़ी कृपा की जो अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया। फिर भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप किसी विशेष प्रयोजन से तो नहीं पधारे हैं?"

मुनि ने गम्भीर होकर कहा—"राजन्! अवश्य मैं आज एक विशेष इच्छा लेकर आपके समीप आया हूँ। आपको मेरी वह इच्छा पूरी करनी ही होगी।"

अत्यंत ही उल्लास के स्वर में राजा ने कहा—"ब्रह्मन! यह मेरा अहोभाग्य है, मैं आज कृतार्थ हो गया, जो महात्माओं ने मुझे भी सेवा के योग्य समझा। द्विजवर मेरा राज, कोष, तथा सर्वस्व सब आपका ही है। आप जो भी माँगना चाहें निःसंकोच मागलें।"

महामुनि पिप्पलाद बोले—"हे नृपवर्य्य! ऐसे वचन आपही कह सकते हैं। आपके द्वार से कभी याचक विमुख नहीं जाते। महाराज! मेरी इच्छा गृहस्थ सुख भोगने की हो गई है। अतः आप अपनी कन्या पद्मा को मुझे विवाह के लिये दे दीजिये।"

यह सुनते ही राजा किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उन्हें संसार सूना दिखाई देने लगा। न वे "हाँ" कर सके न "ना" ही। वे चुप चाप नीचा सिर करके पृथ्वी को निहारते रहे।

मुनिवर राजा के भाव को समझ गये। साल छै महीने की तपस्या से ही कितना अभिमान हो जाता है, फिर मुनिके पास सहस्रों वर्षों की तपस्या का कोप संचित था। उनके सम्मुख राजा महाराजा क्या थे। अपनी इच्छा का विघात होते देखकर कामी मुनि को क्रोध आ गया। उन्होंने लाल लाल आँखे करके कहा— "राजन्! तुम्हारे भाव को मैं समझ रहा हूँ। तुम विश्वास रखो, यदि तुमने मेरी इच्छा का विघात किया, तो मैं शाप देकर तुम्हारा सर्वस्व नष्ट कर दूँगा।"

इस बात से तो महाराज का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वे बच्चों की भाँति फूटफूट कर रोने लगे। वे अपने प्राणों से प्यारी सुकुमारी कन्या के लिये क्या क्या सोच रहे थे। कितनी इच्छायें लेकर इसे पाला था, कैसे सर्वगुण सम्पन्न वर का मैं स्वप्न देख रहा था, आज अपनी फूल सी कोमलाङ्गी कन्या को इन वृद्धावस्थासे जर्जर भैंसे के समान कठोर चर्म वाले रूखी दाढ़ी मूँछ और जटाओं वाले मुनिको देकर मैं कैसे जीवित रहूँगा। यह तो वैसे ही हुआ कि गौ'को बड़े लाड़ प्यार से पाला पोसा अन्त में उसे कसाई को दे डाला। राजा डर के कारण थर थर काँप रहे थे। उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाह हो रहा था। क्षण भर में बात सर्वत्र फैल गई। अन्तः पुर में जब रानियों ने यह समाचार सुना तो वे सब कुररी पक्षी की भाँति रुदन करने लगी। कन्या की माता तो मारे शोक के मूर्छित

ही हो गई। राजसभा में सर्वत्र सन्नाटा छा गया। समाचार सुनकर पुरोहित और राजा के कुलगुरु आये। उन दोनों ने राजा को—इस दशा में देखा, तो वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने अनेक मधुर मधुर वचन कहकर राजा को धर्मका तत्त्व समझाया। वे बोले—"महाराज! आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों कन्या तो आपको किसी न किसी को देनी ही है। सयानी कन्या को सदा घर में कौन रख सकता है। पिता तो कन्या का पालन दूसरे के निमित्त ही करता है। महाराज! श्रेष्ठ वरके प्राप्त होने पर पिता को तुरन्त कन्या दे देनी चाहिये। युवावस्थापन्न कन्या को अधिक दिन घर में रखना उचित नहीं। राजन्! ब्राह्मण से बढ़कर सत्पात्र संसार में और कहाँ मिलेगा। यह तो आपका बड़ा सौभाग्य है कि इतने बड़े तपोधन मुनि ने स्वयं ही आपके द्वार पर आकर कन्या की याचना की है। यदि आप मोहवश कन्या न देंगे, तो ये क्रुद्ध हुए मुनि अवश्य ही आपके सर्वस्व का नाश कर देंगे। महाराज! क्रुद्ध हुआ तपस्वी ब्राह्मण वाघ से भी अधिक भयंकर हो जाता है। अतः एक कन्या के पीछे आप अपने सम्पूर्ण राज्य का क्षय न करावें। प्रसन्नता पूर्वक अपनी कन्या को इन्हें देदें।"

राजा बुद्धिमान थे, गुरु के अनुशासन में चलने वाले थे, सब कुछ आगे पीछे की सोच कर और इसी में अपने राज्य का कल्याण समझकर उन्होंने कन्या को मुनिके लिये देना स्वीकार कर लिया। मन से तो उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु सोचा—"एक को देकर सर्वस्व की रक्षा की जा सकती हो, तो एक को देना ही बुद्धिमानी है। अतः उन्होंने कन्या को वस्त्राभूषणों से विधिवत अलंकृत करके शास्त्रीय रीति से मुनि

को वह देदी। अबतो कमला के समान पद्मा को पाकर पिप्पलाद मुनि परम प्रसन्न हुए और उसे अपने आश्रम को लेकर चल दिये। इधर राजा को बड़ी मानसिक ग्लानि हुई, वे उसी समय राज्यपाट अपने पुत्र कीर्तिमान् को सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये। कन्या की माता ने दुःख शोक के कारण वहीं अपने प्राणों का त्याग दिया। महाराज अनरण्य भगवान् की आराधना करते हुए अन्त में परलोक वासी हुए।

इधर महामुनि पिप्पलाद् अपनी प्रिया पद्मा के साथ रह कर गृहस्त धर्म के सुखों का उपभोग करने लगे। संस्कारवश उनके मनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न हो गई थी, नहीं तो वे सदाचारी तपस्वी दृढ़व्रत मुनि तो थे ही। इसीलिये उन्होंने धर्म पूर्वक विवाह किया और शास्त्रीय विधि से गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। इतनी सुन्दरी पद्मा को पाकर भी वे लम्पट नहीं हुए। अपने चित्त को वश में रखकर धर्म पूर्वक व्यवहार करते। पद्मा भी मुनि को अपना सर्वस्व समझती। उसने सर्वात्मभाव से अपने को मुनि के चरणों में समर्पित कर दिया था। जिस दिन वह मुनि के साथ आई उसी दिन से उसने राजपुत्री का अभिमान छोड़ दिया। अपने को पत्नी समझकर छोटे बड़े सभी कामों को स्वयं अपने हाथों से ही करती। दिनभर मुनिकी सेवा में ही जुटी रहती। अपनी ऐसी सेवा से उसने मुनिवर पिप्पलाद को परम सन्तुष्ट कर लिया। वह घड़ालेकर पुष्पभद्रा नदी में जाती और जलभर कर स्वयं ही ढोकर उसे लाती।

एक दिन वह जल भरने जा रही थी, कि मार्ग में उसने सुवर्ण मंडित एक रथ में अत्यन्त ही तेजस्वी रूपवान् एक राजा को देखा। इस घोर अरण्य में ऐसे मलिन वसनपहिने

इतनी सुन्दरी स्त्री को देखकर राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह शीघ्रता के साथ पद्मा के समीप आया और अत्यन्त ही विनीत भाव से आकर कहने लगा—"देवी! तुम तो राजरानी होने योग्य हो। हे सुभगे! तुम यहाँ निर्जन वन में कहाँ आ फँसी। कहाँ तो तुम्हारा यह अनुपम रूप लावण्य, सर्वश्रेष्ठ युवावस्था और कहाँ वह बूढ़ा मरणोन्मुख वृद्ध मुनि। हेतन्वङ्गि! मैं सत्य कहता हूँ, तुम इस बूढ़े तापस के योग्य नहीं हो। यह तो तुम्हारे साथ अन्याय किया गया है। यौवन की सफलता इसी में है कि युवती को रतिप्रिय पुरुष प्राप्त हो, और पुरुष को सर्वाङ्ग सुन्दरी सुलक्षणा, अनुरूपा स्थिर यौवना पत्नी प्राप्त हो। हे भामिनि! मैं एक देश का राजा हूँ, अनेकों मेरे यहाँ रानियाँ हैं, तुम मेरे महलों में चलो वहाँ सब की अधीश्वरी बनकर रहो। इस वृद्धावस्था मे जर्जर, बूढ़े खूँसट मुनि को छोड़कर मुझे अपना किंकर बनालो। मेरे साथ निर्जन वन उपवनों में, काननों में, रम्य पर्वतीय प्रान्तों में नदी और निर्झरों के तटों में विहरो, आमोद प्रमोद करो, अपने यौवन को सफल बनाओ। इस धर्म कर्म के पचड़े को छोड़ो, पतिव्रत को प्रलोभन स्वार्थियों ने देखा है। धर्म वही है जिससे इन्द्रिय सुख हो।" इस प्रकार उसने अनेक प्रकार से पद्मा के चित्त को डिगाना चाहा।

उसकी ऐसी बातें सुनकर क्रुद्ध हुई सर्पिणी के समान उसे अपनी लाल लाल आँखों से जलाती सी हुई पद्मा कहने लगी—"अरे, नीच! तू तत्क्षण यहाँ से भाग जा। हे पापात्मा! यदि तैंने मुझे काम भाव से देखा, तो तू इसी क्षण भस्म हो जायगा। यह तो कैसी धर्म विरुद्ध बातें कह रहा है! क्या मैं इन तपोधन परमर्षि के प्रति मनमे भी अश्रद्धा कर

सकती हूँ। तुम स्त्रीजित, कामी लम्पट नीच को तो देखना भी पाप है। तैंने नीचता की पराकाष्ठा करदी। मुझे देखना ही था, तो, तू मुझे मातृबुद्धि से देखता, स्त्री बुद्धि से तैंने कामार्त होकर मुझे देखा है, अतः जा तुझे क्षय हो जाय।"

इतना सुनते ही वह अपना छद्म वेष त्याग कर अपने यथार्थ रूप में आगया। वास्तव में वह राजा नहीं था, साक्षात् धर्म ही पद्मा की परीक्षा लेने वेष बदलकर आये थे, वे यह जानना चाहते थे, कि वृद्ध पति को पाकर पद्मा हृदय से सन्तुष्ट है या नहीं। सो यहाँ तो लेने के देने पड़ गये धर्म-देव बड़े घबराये वे अपने साक्षात् रूप से पद्मा के सम्मुख खड़े हो गये और विनीत वचनों मे काँपते हुए बोले—"हे माता ! मैं साक्षात् धर्म हूँ। मैं तो केवल परीक्षा लेने आया था। मेरा कोई दूषित भाव नहीं था। आपने अपने पातिव्रत के प्रभाव से मुझे शाप दे दिया, यह उचित ही किया विधि का ऐसा ही विधान है। सर्वात्मा प्रभु की यही इच्छा थी जगत् का कल्याण करने वाले शिव सृष्टि के लिये मुझे क्षयिष्णु ही बनाना चाहते थे। उसे उन्होंने आपके द्वारा शाप दिलाकर पूरा किया। इसी को लेकर सर्वेश्वर नाना अवतार धारण करेंगे ! जो प्रभु इस चराचर विश्व का लीला से ही पालन पोषण कर रहे हैं उन सर्वात्मा प्रभु को प्रणाम है।" इस प्रकार कहकर धर्म शान्त होकर पतिव्रता के सम्मुख खड़े हो गये।

पिप्पलादि पत्नी पद्मा ने जब अपने सम्मुख साक्षात् मूर्तिमान धर्म को देखा, तब तो वह चकित रह गई। अत्यंत आश्चर्य के साथ वह कहने लगी—"धर्मदेव ! आप सभी प्राणियों के पाप पुण्य के साक्षी हैं, फिर आप मुझसे ऐसी अधर्म की बात क्यों

कह रहे थे। क्यों मेरे मनको मथकर चित्त को विलोडित कर रहे थे। प्रभो ! मैंने बिना जाने आपको शाप दे दिया था, इस लिये आप मुझे क्षमा करें। मेरा शाप तो मिथ्या हो नहीं सकता अब इसकी यही व्यवस्था हो, कि सत्ययुग में आपके चारो चरण रहेंगे। फिर क्रम से त्रेता मे तीन, द्वापर मे दो कलि में मे एक, और कलि के अंत में आपके चारों पाद नष्ट हो जायँगे। सत्य-युग में फिर चार के चारों हो जायँगे। भगवान आपकी रक्षा करेंगे। अच्छी बात है, आप अपने घर जायँ। मुझे पतिसेवा के लिये विलम्ब हो रहा है। ।"

यह सुनकर धर्म अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले—"देवि ! मैं तुम्हारे पातिव्रत से अत्यंत ही सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम्हारे पति परम सुन्दर युवावस्थापन्न हो जायँ। आप १० पुत्रों की जननी हों। आपके यहाँ सभी समृद्धियाँ भरी रहें। आपकी मति सदा मुझमें लगी रहे। आपको कभी किसी वस्तु की कमी न रहे। आपका सौभाग्य सदा बना रहे।"

धर्म के मुख से ऐसे वरों को पाकर पद्मा अत्यंत सन्तुष्ट हुई। उसने पृथिवी में सिर टेककर धर्म को प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा की और धर्म से आज्ञा पाकर पुष्पाभद्रा से जल भर-कर वे अपने आश्रम में चली गईं। वहाँ जाकर वे क्या देखती हैं कि उनके पति कामदेव के समान सुन्दर युवावस्थापन्न बने मन्द मन्द मुस्करा रहे हैं। चारों ओर सम्पत्ति के ढेर लगे हैं। सुन्दर सुन्दर महल खड़े हैं। अपनी प्राणप्रिया पतिव्रता पत्नी के ऐसे पतिव्रत के प्रभाव को पिप्पलादि मुनि योगद्वारा जानकर परम प्रसन्न हु। काल पाकर पद्मा के गर्भ से १० पुत्र हुए जो परम तेजस्वी मुनि हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने संक्षेप में धर्म को क्षयिष्णु होने की कथा आपको सुनादी। भगवान् इसी क्षीण हुए धर्म की स्थापना के निमित्त अवतार लेते हैं। जब जैसी आवश्यकता देखते हैं तब वैसा ही रूप रखकर प्रभु धर्म की स्थापना करते हैं। मत्स्य रूप रखकर भगवान् ने जो कार्य किया, उसे महाराज परीक्षित् के पूछने पर जैसे मेरे गुरुदेव भगवान शुक ने वर्णन किया था उसे मैं आप सबको सुनाऊँगा। आप इसे दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

होहि धर्म की हानि तबहिँ हरि प्रकटित होवें।
तानि दुपट्टा अन्य समय पयनिधि मय सोवें॥
जस जस अवसर लखैं तबहिँ तस वेष बनावैं।
नाना लीला करैं वेदहू पार न पावैं॥
नैमित्तिक लय जब भयो, ब्रह्माजी निद्रित भये।
सत्यव्रत राजर्षि हित, श्रीहरि मछली बनि गये॥

महाराज सत्यव्रत पर मत्स्य भगवान् की कृपा

(५८५)

एकदा कृतमालायां कुर्वते जलतर्पणम् ।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥
सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारय ।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० १२, १३ श्लो०)

छप्पय

कृतमाला महँ करहिँ द्रविणपति जल तैं तरपन ।
अञ्जलि महँ लघु मत्स्य निरखि कीयो जल अरपन ॥
मछली ह्वै के दीन कहे—नृप रच्छा कीजै ।
आई तुमरी शरन सत्यव्रत आश्रय दीजै ॥
दीन बचन सुनि लाइ नृप, कलश रखी सो बढ़ि गई ।
नाद सरोवर, ताल महँ, धरी तहाँ लम्बी भई ॥

भगवान् जिस रूप को रखते हैं, उसके अनुरूप नहीं बन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे भारतवंशावतंश राजन् ! द्रविड़ देश के महाराज सत्यव्रत एक बार कृतमाला नदी मे जल तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनकी अञ्जलि में एक मछली आ गई । राजा ने उस अञ्जलि में आई हुई मछली को जल सहित नदी के जल में छोड़ दिया ।

जाते हैं, किन्तु उनका अनन्त ऐश्वर्य छिपाने पर भी नहीं छिप सकता। अग्नि को कितने भी कपड़ों के परत में लपेट कर रखिये, कुछ काल में प्रकट हो ही जायगी। भगवान् जिस देह में भी अवतार धारण करें, अपनी महिमा से वे प्रकट हो ही जाते हैं। वे किसी सुकृति भाग्यशाली को ही दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं जिसने वे दर्शन कर लिये, फिर वह उन्हीं का इच्छा यन्त्र बन जाता है। यन्त्र तो सभी उनके हैं। उनकी इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। फिर भी अज्ञानी लोग इस रहस्य को समझ नहीं पाते। उनके आश्रित भक्त इस बात को समझ कर सब कार्यों में उन्हीं का हाथ निहार कर निश्चिन्त और शान्त हो जाते हैं। इतना ही अन्तर है।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन! यह जो वर्तमान श्वेतवाराह कल्प चल रहा है, इससे पहिले कल्प में जब ब्रह्माजी का एक दिन समाप्त हुआ। रात्रि के आने पर जब वे योग निद्रा में शयन करने को उद्यत हुए अर्थात् कल्पान्त प्रलय का समय आया, तो निद्रित हुए ब्रह्मा जी के मुख से हयग्रीव नामक एक दैत्य उसी प्रकार निकल कर भाग गया जैसे जाल में से मछली निकलकर भाग जाती है। जैसे पिंजड़े में से पक्षी निकल जाता है। घर का द्वार खोलकर सामान लेकर चोर निकल जाता है। समीप ही वहाँ वेद पड़े हुए थे। दैत्य ने सोचा—"जो मिले सोई सही, इसलिये वेद को भी वह ले भागा और जाकर पाताल में छिप गया। ब्रह्माजी तो सो ही रहे थे, उन्हें तो इस चोर का पता चला नहीं, किन्तु सब के सोने पर भी जो निरन्तर जागते रहते हैं वे हरि तो उस दुष्ट की सब बातें जानते थे, अतः मछली का रूप रखकर

पातालके जलमें गये और उसे मारकर वेदों को छीन लाये।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बात कुछ हमारी समझ में आई नहीं। जब तीनों लोकों का प्रलय हो गया, तो फिर वह राक्षस कहाँ से आ गया। तब तो कोई जीव था ही नहीं। फिर आप कहते हैं ब्रह्मा जी के पास में पड़े वेदों को हर ले गया। तो क्या वेदों की पुस्तक को ले गया था? यदि वेदों को पुस्तक को ले गया तो वह जल में गली क्यों नहीं? भगवान् ने मछली बनकर कैसे उद्धार किया, वह दैत्य रहा कहाँ, पाताल तो तब था ही नहीं?"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—'महाराज! ये सब सूक्ष्म जगत् की बातें हैं। प्रलय काल में जीव कहीं चले थोड़े ही जाते हैं, वे सब ब्रह्माजी के उदर में ही निवास करते हैं। जैसे पंसारी की दुकान में जितनी वस्तुएँ हैं, रात्रि होते ही वे नष्ठ तो नहीं की जाती दुकान में रखकर दुकानदार सो जाता है, प्रातः काल उन्हें फिर ज्यों की त्यों लगा देता है। ऐसे ही कल्प के अन्त होने पर कर्मानुसार जीव फिर उत्पन्न होने लगते हैं। धाता यथापूर्व जगत् की समस्त वस्तुओं की कल्पना कर देते हैं। इसी प्रकार यह प्रवाह अनादि चल रहा है। बहुत से दैत्य, दानव, देवता कल्पजीवी होते हैं। बहुत से ब्रह्माजी की आयुपर्यन्त रहते हैं। बहुतों ने तो बहुत ब्रह्माओं को देखा है। प्रलय में भी बहुत से देव, दैत्य, ऋषि, मुनिओं को ज्ञान रहता है। वे सूक्ष्म शरीर से प्रलय के जल में रह सकते हैं। सब वस्तुओं के अधिष्ठातृ देव होते हैं। वेदों के भी अधिष्ठातृ देव हैं। पुस्तकों में तो वैदिक ज्ञान लिखा है,

पुस्तक ही वेद नहीं है, जैसे हम दो अक्षर लिख देते हैं "आ" और "म", कोई पूछता है कि, यह क्या है ? तो हम कह देते हैं यह 'आम, है। वास्तव में वह तो 'आम' है नहीं। आम तो उन अक्षरों से सर्वथा पृथक है। फिर भी वह जगत् में उत्पन्न होने वाले फल का द्योतक है। इसी प्रकार वेदों की पुस्तकें वेदों की द्योतक है। जितनी संहितायें प्राप्त हैं, उतना ही वेद नहीं। वेद अनन्त है। हयग्रीव नामक राक्षस सूक्ष्म शरीर से वेद के अधिष्ठातृ देव को ले गया। ब्रह्माजी वेदहीन हो गये। बिना वेद के वे जाग कैसे सकते हैं, जागकर सृष्टि कैसे कर सकते हैं। सृष्टि का प्रवाह रुकने न पावे इसीलिये भगवान् ने मत्स्यावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया। उस समय पृथिवी तो जल मग्न थी, सातों समुद्र एक हो गये थे। वह दैत्य जल के भीतर जाकर छिप गया था। अगाध जल में मछली ही जा सकती है। इसीलिये भगवान ने यह जलचर रूप रखा।"

महाराज परीक्षित ने भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! आप मुझे मत्स्यावतार की क्रम से कथा सुनाइये।

इसपर श्री शुक बोले—"राजन्! इस श्वेतवाराह कल्प से पहिले कल्प में सत्यव्रत नामक राजा थे, वे बड़े धर्मात्मा यशस्वी और सत्यवादी थे। दक्षिण में जो द्रविड़ देश है, उसके अधीश्वर थे। राज्य पाट छोड़कर वे कृतमाला नामक पुण्यतोया सरिता के तटपर रहकर भगवान की आराधना करते थे। उन्होंने अन्न, फल, फूल आदि सभी का परित्याग कर दिया था, केवल जल पी कर ही वे तपस्या में निरत रहते।

एकदिन की बात है कि वे राजर्षि सत्यव्रत कृतमाला नदी में जल से देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण कर रहे थे,

के इतने मे ही उनकी अञ्जलि में एक अत्यंत छोटी सी चमकती

हुई मछली आ गई। राजा ने सोचा—"मछली बड़ी सुन्दर है,

किन्तु इसका आधार तो जल ही है, यदि इसे मैं जल से बाहर फेंक दूँगा, तब तो यह मर जायगी।' इसलिये उन्होंने उसे अञ्जलि के जल सहित कृतमाला के जल में ही छोड़ दिया। इस पर वह छोटी सी मछली मनुष्यों की सी वाणी में अत्यन्त करुणा के साथ कहने लगी—राजन्! आप धर्मात्मा हैं, दीनों पर दया करने वाले हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं। शरण में आये हुओं की रक्षा करना आपका व्रत है फिर आप मेरा परित्याग क्यों कर रहे हैं? देखिये, बड़े मत्स्य छोटी मछलियों को खा जाते हैं। छोटों से ही बड़े लोग मोटे हो जाते हैं, मैं आश्रय हीन होकर घूम रही हूँ। आप मेरी रक्षा करें, नहीं तो ये मेरी जाति के बलवान् जन्तु मुझे भक्षण कर जायँगे।"

महाराज सत्यव्रत ने जब मानवीय वाणी मछली के मुख से सुनी, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर भी उन्होंने उसे कोई साधारण मछली ही समझा, उन्होंने निश्चय कर लिया—"मैं इस मछली की रक्षा करूँगा।' यह सोचकर उन्होंने करुणवश उस मछली को जल में से पुनः निकाल लिया। स्नान करके जल लाना एक आवश्यक कृत्य है, अतः जिस छोटे से कमण्डलु में वे जल ले जाते थे, उसी में जल भर के उस मछली को भी डाल लिया। फिर वे अपने नित्य कर्मों में निवृत्त हुए। सायंकाल स्नानादिक कृत्य करके महाराज उस मछली को कमण्डलु में लिये हुए अपने आश्रम पर चले गये। राजा ने देखा, यह कमण्डलु छोटा है, मछली तो बहुत बढ़ गई है, अतः

उन्होंने उसे एक बड़े भारी कलश में रख दिया। कलश में रख कर महाराज सत्यव्रत सो गये।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे भगवान् ने अपने रूप का विस्तार किया, उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा। आप इस सुखद, रोचक, पुण्यप्रद प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

एक दिवस महँ मत्स्य बढ़यौ नृप चकित भये अति।
बाढ़ै छण छण माँहि वृद्धि की अति अद्भुतगति॥
शतयोजन सर घेर लियो नहिँ वृद्धि रुकी जब।
ह्वैकें अति ही दीन मीन नृप तैं बोली तब॥
नृप! निर्वाह न होहि मम, सर छोटो हौं बडी बहु।
कैसे जीवित रह सकूँ, सोचि समुझि भूपति कहहु॥

मत्स्य भगवान् का अमित रूप

(५८६)

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च ।
यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥
नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

विस्मित नृपवर भये विहँसि के बोले बानी ।
नहीं मत्स्य हैं आप विष्णु अव्यय हौं जानी ॥
काहे कारन धरयो रूप मछली को प्रभुवर ।
नित नव लीला करौ भक्त भयहारी सुखकर ॥
हरि हँसि बोले सातदिन, महँ होवै त्रैलोक्यलय ।
एक होहिँ सातौं उदधि, जगत् होहि सब सलिलमय ॥

भगवान् के पराक्रम का कोई थाह नहीं, सीमा नहीं । यह

---

* महाराज सत्यव्रत मत्स्य भगवान् से कह रहे हैं—"जल के रहने वाले जीव में ऐसा वीर्य पराक्रम तो हमने न कभी पहिले देखा है न सुना है । आपने तो इस सौयोजन वाले इस तालाब को एक दिन में ही अपने शरीर से घेर लिया । अवश्य ही आप साक्षात् अव्यय श्री नारायण हरि हैं प्राणियों पर अनुग्रह करने के निमित्त आपने मत्स्य रूप धारण किया है ।

क्षुद्र प्राणी अपनी ही तोल से सबको तोलने का आदी पड़ गया है, अपने ही नाप से सबको नापता है। बलि से जब भगवान् ने अपने पैरों से पृथिवी माँगी, तो बलि सुनकर हँस "पड़ा तीन पैर यह बटु क्या माँगता है।" उसने अपने पैरों से समझा। जहाँ हम इस अपने पराये के भेद को त्याग कर सब का उन अनन्त अच्युत, अपरिमेयप्रभु के नाप से नापने लगेंगे तब आश्चर्य और विस्मय की कोई बात ही नहीं रह जाती।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सत्यव्रत ने रात्रि में मत्स्य भगवान् को एक बड़े भारी मटका में रख दिया था। प्रातः जब वे ब्राह्ममुहूर्त में उठे तो मत्स्य भगवान् वहीं से बोले—"राजन्! आपने जब मुझे आश्रय दिया है, तो ऐसे घोटकर मुझे क्यों मारते हैं? इस मटके में तो मैं समा नहीं सकती। किसी विस्तृत जलाशय में मुझे रखिये।" यह सुनकर राजा के समीप ही एक तालाब में उस विचित्र मत्स्य को छोड़कर स्नान करने चले गये।

वे स्नान करके ज्यों ही लौटे त्यों ही उन्हें मत्स्य भगवान् की वाणी सुनाई दी—"राजन्! मेरा निर्वाह इस जलाशय में नहीं होने का मुझे किसी बड़े जलाशय में रखें।"

राजा ने जाकर देखा, वह एक योजन का सरोवर मछली ने अपने अंग से घेर लिया है, अब उन्हें चिन्ता हुई—"इतनी बड़ी मछली को मैं अकेला उठा कैसे सकता हूँ।" महाराज के मनमें ज्यों ही ऐसा संकल्प उठा, त्यों ही मत्स्य हरि बोले—"राजन्! आप मुझे उठाइये चिन्ता न करें।"

राजा ने उन्हें उठाया, तो वे पुष्प के समान हलके हो गये राजा ने एक दशयोजन के सरोवर में उन्हें डाल दिया। आधे मुहूर्त में ही राजा ने देखा मत्स्य ने तो इस १० योजन के सरोवर को घेर लिया है। अब के वे स्वयं उठाने गये, १० योजन का शरीर उन्होंने उठाया, तो फूल के समान लगा। अब के उन्होंने ५० योजन के सरोवर में उन्हें छोड़ दिया। फिर भी उतने ही बढ़ गये। तब १०० योजन सरोवर में छोड़ा। वह भी उनके लिये पर्याप्त नहीं हुआ और दीन वचनों में बोले—"राजन् मुझे किसी अक्षय जल राशि में डाल दें तब राजा ने उन्हें समुद्र में जाकर फेक दिया। आश्चर्य इसी बात का था, कि १०० योजन का शरीर था राजा के उठाने पर वे पुष्प के समान उठ जाते थे।

राजा जब मत्स्य भगवान् को समुद्र के जल में डालने लगे, तब मत्स्य भगवान् बोले—"राजन्! कृपा करके आप मुझे यहाँ समुद्र में निराश्रित न छोड़ें, मुझे कोई यहाँ खा जायगा।" १०० योजन होने पर भी जो फूल के समान उठ आये थे, उनके मुख से ऐसी दीनवाणी सुनकर अब तो महाराज सत्यव्रत को चेत हुआ उन्होंने सोचा जो एक दिन में ही १०० योजन बढ़ गये हैं, उठाने पर फूल के समान हो जाते हैं, जो स्पष्ट मानवीय भाषा बोलते हैं, ये साधारण जलचर जीव नहीं। हो न हो ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हों।" अतः वे विनीत भाव से बोले प्रभो! आपने रूप तो मत्स्य का धारण कर रखा है। कार्य आप अलौकिक कर रहे हैं। आप कौन हैं, मत्स्य शरीर से मुझे मोह में डाल रहे हैं। ऐसा बल, पराक्रम, अपार ऐश्वर्य तो मैंने आज तक किसी भी जलचर जीव में नहीं देखा। एक दिन में ही आपने अपने शरीर को सौ योजन बढ़ा लिया है। अवश्य ही

आप जो नहीं हैं। साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। आप अज अच्युत, अविनाशी भूमा पुरुष हैं।"

हँस कर मत्स्य भगवान् बोले—"मैंने तो जन्म धारण किया है, आप मुझे अजन्मा अच्युत क्यों बता रहे हैं?"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन् ! आप अज होकर भी लोक कल्याण के निमित्त कभी अवनिपर अवतरित होते हैं। आप अजन्मा होकर भी धर्म संस्थापनार्थ जन्म ग्रहण करते हैं अवश्य ही जीवों पर कृपा करने के ही निमित्त आपने यह जलचर रूप धारण किया है।"

यह सुनकर हँसते हुए मत्स्य भगवान् बोले—"राजन् ! आप सत्य संकल्प हैं, आपका वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता।"

अब तो राजा को निश्चय हो गया, भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया है, वे भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके आनन्द मे विभोर हो गये। उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। वे गद्‌गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे। बार बार साष्टांग प्रणाम करते। वे कहने लगे "हे प्रभो ! हम शरणागत भक्तों की आपही एकमात्र गति हैं, आपही हमारे सर्वस्व हैं। आपही इस चराचर विश्व को उत्पन्न करते हैं, आपही इसका नाना अवतार धारण करके पालन करते हैं और अन्त में आपही रुद्ररूप से संहार भी करते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा में लोकोपकार सन्निहित है। हे अशरण शरण ! हम यह जानना चाहते हैं, कि आपका यह अद्‌भुत जलचर अवतार किस विशेष कारण से हुआ है। वैसे तो आपकी सभी लीलायें सुखकर ही हैं, जिन्हें

गा गाकर प्राणी संसार सागर से सरलता के साथ पार हो

जाते हैं, फिर भी इस विचित्र अवतार का कोई विशेष कारण

आप जो नहीं हैं। साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। आप अज अच्युत, अविनाशी भूमा पुरुष हैं।"

हँस कर मत्स्य भगवान् बोले—"मैंने तो जन्म धारण किया है, आप मुझे अजन्मा अच्युत क्यों बता रहे हैं?"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन्! आप अज होकर भी लोक कल्याण के निमित्त कभी अवनिपर अवतरित होते हैं। आप अजन्मा होकर भी धर्म संस्थापनार्थ जन्म ग्रहण करते हैं अवश्य ही जीवों पर कृपा करने के ही निमित्त आपने यह जलचर रूप धारण किया है।"

यह सुनकर हँसते हुए मत्स्य भगवान् बोले—"राजन्! आप सत्य संकल्प हैं, आपका वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता।"

अब तो राजा को निश्चय हो गया, भगवान् ने मत्स्याव-तार धारण किया है, वे भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके आनन्द में विभोर हो गये। उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। वे गद्-गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे। बार बार साष्टांग प्रणाम करते। वे कहने लगे "हे प्रभो! हम शरणागत भक्तों की आपही एकमात्र गति हैं, आपही हमारे सर्वस्व हैं। आपही इस चराचर विश्व को उत्पन्न करते हैं, आपही इसका नाना अवतार धारण करके पालन करते हैं और अन्त में आपही रुद्ररूप से संहार भी करते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा में लोकोप-कार सन्निहित है। हे अशरण शरण! हम यह जानना चाहते हैं, कि आपका यह अद्भुत जलचर अवतार किस विशेष कारण से हुआ है। वैसे तो आपकी सभी लीलायें सुखकर ही हैं, जिन्हें

गा गाकर प्राणी संसार सागर से सरलता के साथ पार हो

जाते हैं, फिर भी इस विचित्र अवतार का कोई विशेष कारण

तो होगा ही। जब आपने इस अधम को अपनाया ही है, तो अब आपके आश्रय को छोड़कर हम किसका आश्रय लें। जगत् के एकमात्र आश्रय तो आपही हैं। आप अपने अवतार का विशेष प्रयोजन बतायें और मुझे अपना सेवक समझकर अपनावें।"

इसपर जल में विहार करने की इच्छा वाले मत्स्य भगवान् अपने अनन्य आश्रित भक्त सत्यव्रत से बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी जल की बाढ़ से रक्षा करने आया हूँ ?"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"जल की बाढ़ कैसी महाराज ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, आज से सातवें दिन ब्रह्माजी का यह कल्प समाप्त हो जायगा। भू, भुव, और स्वः ये तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। चराचर जीवों को ब्रह्माजी अपने उदर में रखकर योगनिद्रा में सो जायँगे। मैं तुम्हें प्रलयकालीन दृश्य दिखाना चाहता हूँ। अगले कल्प में मैं तुम्हें मनु बनाना चाहता हूँ। इसलिये तुम पृथिवी के समस्त छोटे बड़े बीजों की अभी से रक्षा करो। और सप्तर्षियों के सहित अपनी भी रक्षा करो। मेरे साथ प्रलय पर्यन्त जल विहार करो।

सत्यव्रत ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"महाराज, मैं कैसे प्रलय के ऐसे जल में ठहर सकता हूँ। मैं इन उत्ताल तरंगों को कैसे सह सकता हूँ। सप्तर्षियों को मैं कहाँ खोजूँगा ?

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम्हें कुछ भी खोजने खाजने की आवश्यकता न पड़ेगी। न तुम्हें प्रलय कालीन समुद्र की उत्ताल तरंगें ही सहन करनी पड़ेगी। आज से सातवें दिन एक बड़ी सुन्दर सुदृढ़ नौका आकर तुम्हारे समीप अपने आप ही लग जायगी। समस्त वस्तुओं के बीजों को लेकर सप्तर्षि गण स्वयं ही तुम्हारे समीप आ जायँगे। तुम उस दिव्य नौका पर उन सब के साथ चढ़ जाना और उस नौका को एक वासुकी रूप रस्सी से मेरे सींग में बाँध देना। फिर मैं उस नौका को खींचते हुए जल विहार कराऊँगा, इधर से उधर घुमाऊँगा। आनन्द का आस्वादन कराऊँगा, सुन्दर सुन्दर अद्भुत कथायें सुनाऊँगा। उस समय तुम मुझसे जो प्रश्न करोगे, उन सबका निश्चिन्त होकर एकान्त में मैं यथावत् उत्तर दूँगा। मैं तुम्हारे ऊपर कृपा करके तुम्हें अपनी परब्रह्ममयी महिमा का साक्षात् अनुभव कराऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार द्रविडेश्वर महाराज सत्यव्रत को इस प्रकार मत्स्य भगवान् आदेश देकर तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। अब तो राजर्षि सत्यव्रत की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् की कृपा का अनुभव करके आनन्द में विभोर हो गये। उन्हें क्षण क्षण भारी पड़ गया। वे बार बार सोचते कब एक पक्ष हो और कब मत्स्य भगवान का दर्शन हो। प्रतीक्षा की घड़ियाँ लम्बी हो जाती हैं अतः वे बड़े कष्ट से उस दीर्घकाल को बिताने लगे। जिन

कुशाग्रों का अग्रभाग पूर्व की ओर है ऐसी कुशाओं के आसन पर स्वस्थ चित्त होकर और स्वयं भी पूर्व की ओर मुख करके निरन्तर मत्स्य भगवान् के चारु चरणों का चिन्तन करते हुए उस अनुपम काल की अत्यन्त उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे।

छप्पय

मम इच्छा तैं तरणि निकट इक तुमरे आवै।
सप्तर्षिनि के संग चढ़ावैं तुमहिँ बचावैं॥
वासुकि वरत बनाइ सींग मेरे महँ बाँधौ।
जल विहार मम संग करौ परमारथ साधौ॥
कहि हरि अन्तर्हित भये, करैं प्रतीक्षा भूप अब।
अति उत्कंठा हिय बढ़ी, आवै नौका दिव्य कब॥

मत्स्य भगवान् का उपदेश और जलविहार

(५८७)

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥
निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

सात दिवस जब भये भई पृथिवी जलमय सब ।
आई नौका एक ऋषिनि सँग चढ़े भूप तब ॥
बाँधी शफरी सींग प्रलय जलमहँ बिचरें हरि ।
पूछे पावन प्रश्न नृपति ने अति बिनती करि ॥
जो जग मय जगतैं पृथक्, देहिं ज्ञान गुरु रूप धरि ।
गुरु के गुरु हरि हो तुमहिँ, नाम सुमिरि बहु गये तरि ॥

भजन, भोजन और प्रेम भाव एकान्त में ही होता है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजर्षि सत्यव्रत के ध्यान करते ही सुवर्ण वर्ण के एक सींग वाले महामत्स्य उस प्रलयार्णव में प्रगट हो गये। वे एक लाख योजन विस्तार वाले थे। तब

सबके सम्मुख, सबको दिखाकर जो भजन होता है, वह या तो नियमपूर्ति के लिये होता है या दम्भ से। सबके साथ भोजन होता है, या तो शिष्टाचार से या विशेष उत्सव पर्वों में। इसी प्रकार सबके सामने जो प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, भक्ति भाव दिखाया जाता है, उसमें शिष्टाचार, स्वार्थ, दम्भ तथा दिखावट की मात्रा अधिक होती है। जैसे एकान्त में पत्नी पति के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रखती है और पति भी उसे अपना सर्वस्व समर्पित करता है, उसी प्रकार सत्शिष्य एकान्त में गुरु के सम्मुख अपने हृदयगत भावों को प्रकट करते हैं और सद्गुरु भी रहस्य वस्तु का उपदेश शिष्यों को एकान्त में ही करते हैं। एकान्त पाकर हृदय-निर्झरिणी का प्रवाह खुल जाता है और वह वेग से बहने लगता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब मत्स्य भगवान् राजर्षि सत्यव्रत को आदेश देकर अन्तर्धान हो गये, तब महाराज बड़ी उत्सुकता से नौका और भगवान् के आने की प्रतीक्षा करने लगे। जैसे तैसे उन्होंने सात दिन बिताये। सातवें दिन वे क्या देखते हैं कि आकाश में बड़ी भारी गड़गड़ान तड़ तड़ान हो रही है। ऐसा प्रतीत होता था, मानो यह शब्द ही पृथिवी को फाड़ देगा। वर्षा इतने वेग से होने लगी, कि पृथिवी आकाश एक हो गये। हाथी की सूँड़ जैसी धारा गिरती है, ऐसी धारायें सर्वत्र गिरने लगी। क्षण भर में सम्पूर्ण धरा

भगवान ने जैसा कहा था उसी के अनुसार सर्प की रस्सी से नौका को उनकी सींग में बाँधकर महाराज सत्यव्रत उन मत्स्य रूप में मधुसूदन की स्तुति करने लगे।

जल मयी बन गई। सभी जीव जल में डूब गये। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता कुछ भी दिखाई नहीं पड़ते थे। भीतर से पाताल गंगा उमड़ी ऊपर से आकाश गंगा गिरी, सातों द्वीप जल में डूब गये। सातों समुद्र मिलकर एक हो गये। महाराज सत्यव्रत घबरा रहे थे, इतने में ही उन्होंने जल में सप्तर्षियों को आते देखा। राजा को धैर्य हुआ उसी समय उन्हें बड़ी सुन्दर सुदृढ़, चपेटों को सहने वाली एक नौका अपनी ओर आती हुई दिखाई दी सप्तर्षियों ने राजा से कहा—राजन! अब विलम्ब करने का काम नहीं। आप हमारे साथ इस नौका पर चढ़ जायँ।"

ऋषियों की आज्ञा पाकर राजा उस नौका पर चढ़ गये, फिर समस्त औषधियों के बीजों को प्रलय से बचाने के निमित्त जो मुनियों ने पोटलियों में बाँधकर रख लिये थे, उन पोटलियों को लेकर सातों मुनि भी चढ़ गये। अब तक राजा प्रलय की प्रचंड तरंगों को देखकर थर थर काँप रहे थे। उन्हें इस प्रकार भयभीत और काँपते देखकर ऋषियों ने कहा—"राजन्! आप भय को तिलाञ्जलि दीजिये, धैर्य को धारण कीजिये और भगवान् मधुसूदन का स्मरण कीजिये। वे तुम्हारी सब प्रकार से रक्षा करेंगे, हमें सभी संकटों से बचावेंगे। हमें तो एकमात्र उन्हीं अज, अच्युत, भौमा पुरुष का सहारा है।"

राजा ने स्वस्थ होकर कहा—"नहीं। भगवन्! घबड़ाने की कोई बात नहीं। भगवान् तो मुझे आदेश दे गये हैं। वे तो मत्स्य रूप में अभी यहाँ प्रकट होंगे। मैं उन प्रलयपयोधि में विचरण करने वाले प्रभु का ध्यान कर लूँ। वे तो भक्तों के ध्यानमात्र से तुरंत उपस्थित हो जाते हैं।" ऐसा कहकर

राजर्षि सत्यव्रत भगवान् का ध्यान करने लगे। उनके ध्यान करते ही वहाँ मत्स्य भगवान् आ उपस्थित हुए।

उनका श्री अङ्ग सहस्र बिजलियों से भी अधिक चमक रहा था, वे इतने सुन्दर थे कि सुन्दरता भी उन्हीं में समागई थी। वे इतने बड़े थे कि उन्हें नापने का कोई साधन ही नहीं था। उस समुद्र में वे टापू के समान लाखों योजन में फैले हुए थे उनके माथे पर एक बड़ा ही सुन्दर चमकीला नुकीला शृङ्ग था। इस रूप में भगवान के दर्शन करके सभी को परम प्रसन्नता हुई। उसी प्रलय की बाढ़ में बहते हुए वासुकी नाग भी कहीं से आ उपस्थित हुए। राजा ने झपटकर उन महासर्प को पकड़ लिया, जिनकी रस्सी बनाकर मन्दर की रई से समुद्र मथा गया था। वासुकी भी प्रलय की चपेटों से घबराये हुए थे। वे भी पकड़ते ही नौका में चढ़ आये, इतने में ही मत्स्य भगवान भी आ गये। राजाने वासुकी के मुख की ओर से भगवान् के सींगमें लपेट दिया। पूँछ की ओर के भाग से कस कर नौका को बाँध लिया। फिर क्या था, बानक बन गया सुन्दर गाड़ी बन गई। मत्स्य भगवान् उसे आनन्द के साथ खींचने लगे। अब तो होने लगा जलविहार। भगवान् के लिये वह नौका ऐसी ही थी जैसे पुरुष मस्तक पर चन्दन की बिन्दी लगाकर स्वेच्छा से घूमते हैं। जैसे चन्दन की बिन्दी का किसी को भार नहीं होता, वैसे ही भगवान् को उस नौका का कुछ भार नहीं था। अब एकान्त में राजा ने भगवान् से विनय पूर्वक प्रश्न पूछने आरंभ किये। पहिले तो राजा ने भगवान् की स्तुति की।

महाराज कहने लगे—"भगवन्! यह जीव इस भयानक भवाटवी में न जाने कबसे भटक रहा है। इस अनादि

अविद्या ने जीव के सहज ज्ञान को आच्छादित कर रखा है। अज्ञानी पुरुष इन अनित्य धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थों में नित्य बुद्धि करके न जाने कब से नाना भाँति के क्लेशों को उठा रहे हैं। सत्य स्वरूप जो आपके चरणारविन्द हैं, उन्हें भूल कर यह जीव असद् वस्तुओं के लिये दौड़ रहा है भटक रहा है। दैववशात् यदि आपका अनुग्रह हो जाय, तो यह संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाय, माया बद्ध प्राणी अज्ञान के केंचुल को छोड़कर विमुक्त हो जाय। यह सब होता है, गुरु कृपा से। अतः हमने आपको अपना गुरु वरण कर लिया है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—गुरु बना लिया अच्छा किया। अब हमें मत्स्य न कहकर गुरु कहा करो।"

महाराज ने कहा—"नहीं, भगवन् इतने से ही तो काम न चलेगा। हमारी यह जो असद् बुद्धि है, जिसके कारण इन अज्ञान मूलक कर्मों को सुख का साधन मानकर हम आँख बन्द करके अन्धों के समान कर रहे हैं। उस अज्ञानमयी बुद्धि को आप नष्ट कर दें। हमारे हृदय में जो माया की ग्रन्थि पड़ गई है, उसे माया के पति आप प्रभु ही खोल सकते हैं। इस गुरगांठ को गुरुरूप आप हरि ही विमोचन कर सकते हैं। अतः आप हमारी हृदय ग्रन्थि का छेदन करें।"

भगवान् ने कहा—"भाई, किसी और को अपना गुरु बना लो। हमसे ही इतना आग्रह क्यों कर रहे हो?"

यह सुनकर राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन्! तुरन्त खान से निकले सुवर्ण सुवर्ण का भी अंश होता है तथा अन्य भी मल

होते हैं। अग्नि के अतिरिक्त कोई अन्य चाहे कि हम सुवर्ण से मल को दूर कर दें, तो असंभव है। अग्नि ही सुवर्ण के मल को दूर कर सकती है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप इस जीव के अन्तःकरण स्थित अज्ञान रूप मल को पृथक् करने में उसे शुद्ध स्वरूप बनाने में आप ही समर्थ हैं। आपकी सेवा रूप ताप से ही अज्ञान रूप मल पृथक् हो सकता है। लोक में विविध विद्याओं के बहुत से गुरु होते हैं, किन्तु उन सब गुरुओं के भी परम गुरु आप अविनाशी ईश्वर ही हमारे यथार्थ गुरु हैं। आपकी शरण में आने पर ही हमारे नेत्रों का अज्ञानान्धकार दूर हो सकता है।"

भगवान् ने कहा—"भाई, संसार में बहुत से इन्द्रादि देवता हैं, विद्यागुरु, शिक्षागुरु, दीक्षागुरु आदि कई प्रकार के गुरु हैं, तुम उनकी शरण में जाओ।"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"हाँ, भगवन्! उनकी शरण तो सुखप्रद है ही, किन्तु वे सब भी आपकी शरण जाते हैं। वे स्वयं चाहें कि आपकी कृपा के बिना अनुग्रह कर सकें तो तनिक भी नहीं कर सकते। आप ही सबके परम गुरु और परमेश्वर हैं। अतः मैंने तो आपके ही चरणों की शरण ले रखी है।"

भगवान् बोले—"भाई, कैसा भी विवेक हीन पुरुष क्यों न हो, गुरु बना लेने पर वह उद्धार कर ही देता है।"

यह सुनकर राजा बोले—"भगवन्! जिन्हें ऐसी निष्ठा हो, उन्हें मैं सिर से प्रणाम कर सकता हूँ। किन्तु मुझे तो ऐसी निष्ठा है नहीं। जो स्वयं अन्धा है, उसके पीछे चलने वाले

सबके सब गड्ढे में गिरेंगे। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों का विवेक हीन पुरुष को गुरु बनाना अपने को और बन्धन में बाँधना है। आप तो स्वयं प्रकाश हैं। भाग्यवश अपनी अहैतुकी कृपा से ही हमारे सम्मुख प्रकट हो गये हैं, अतः हमने आपको अपना गुरु बना लिया है।

भगवान् ने कहा—"भाई, मन्त्र दाता ही तो गुरु होता है।"

सत्यव्रत जी ने कहा—"हाँ, प्रभो! यह सत्य है, तारक मन्त्र प्रदान करने वाला मन्त्रदाता गुरु पूज्य है, किन्तु वह तारक मन्त्र दे तब तो! जो केवल अर्थ कामादि विषयों की प्राप्ति के लोभ से कान में "कानावाती कुर्रु, तू चेला मैं गुर्रु" ऐसा ही मन्त्र दे दे। शिष्य के अज्ञान का अपहरण न करके धर्म का ही अपहरण करे। ऐसे अपने को गुरु मानने वाले अज्ञानी पुरुष स्वयं भी गिरते हैं और शिष्य को भी गिराते हैं।

"लोभी गुरू लालची चेला, होहि नरक में ठेलम ठेला" आप तो भगवन्! ऐसे गुरु नहीं हैं आप तो अमोघ ज्ञान का उपदेश करने वाले है। आपकी कृपा होते ही मनुष्य आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् ने कहा—"देखो तुम हमें गुरु मानते हो, या ईश्वर?"

राजा ने कहा—"प्रभो! आप गुरु भी हैं, माता भी हैं, पिता भी हैं, ईश्वर भी है, सुहृद् भी हैं, सखा भी हैं। आत्मा भी हैं। कहाँ तक कहे आप सर्वस्व हैं। आप ही आप हैं, आपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। आप हो प्राप्य हैं, आप ही प्राप्त कराने वाले हैं। आप सबके घटघट में साक्षी चैतन्य

रूप से विराजमान हैं,किन्तु अन्तःकरण पर आपने अपनी माया का ऐसा पर्दा डाल रखा है कि मोहान्धकार में भटकते हुए विषयासक्त पुरुष आपको देख नहीं सकते। हे परमात्मन् आप अपने उपदेशामृत की वर्षा करके मेरे शुष्कहृदय को हरा भरा कीजिये। मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कीजिये, सम्पूर्ण संशयों का छेदन कीजिये, हृदय की मोहरूपी घुण्डी को खोलिये मधुमय उपदेश पूर्ण वचन बोलिये।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजर्षि सत्यव्रत का आग्रह देखकर और उन्हें तत्वज्ञान का अधिकारी समझकर मत्स्य भगवान् उपदेश देने लगे।

छप्पय

देहिँ मोइ उपदेश जगत् गुरु सबके स्वामी।
देहिँ ज्ञान का अज्ञ अन्ध नर लोभी कामी॥
परमदेव, गुरु, पिता, सुहृद् सम्बन्धी सब तुम।
छाँड़ि जगत् की आश शरण आये तुमरी हम॥
सुनत नृपति के वचन हरि, मुस्काये प्रमुदित भये।
फिर भूपति अस ऋषिनि के, प्रश्ननि के उत्तर दये॥

———

मत्स्यावतार चरित का उपसंहार

(५८८)

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानाम् ,
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

जग महँ मत्स्य पुराण कहैं पंडित जन जाकूँ ।
ते नर प्रभुपद पाहिँ पढ़ै श्रद्धा तैं बाकूँ ॥
यों विश्वम्भर विष्णु रूप मछली को धारयो ।
हयग्रीव खल दैत्य पकरि पाताल पछारयो ॥
भक्त भूप रक्षा करी, ज्ञान ऋषिनि के सँग दयो ।
सुनत मोह तमनसि गयो, तत्क्षण भवभय भगि गयो ॥

भगवान के वचनों को ही वेद कहते हैं। जिसमें भगवान् के अवतार चरित्रों का वर्णन हो वे ही पुराण कहलाते

❀ श्रीशुकदेवजी मत्स्य चरित्र का उपसंहार करते हुए अन्त में मत्स्य भगवान् को नमस्कार करते हैं—"हयग्रीव नामक दैत्य प्रलयकालीन जल में सोये हुए ब्रह्माजी के मुख से वेदों को चुरा ले गया

हैं। वैसे तो पुराण के १० लक्षण बताये हैं, किन्तु मुख्य लक्षण यही हैं, जिसमें पुराण पुरुष की पुण्यमयी महिमा का वर्णन हो उसे पुराण कहते हैं। वही मनुष्यों के सुनने योग्य है, उसी से अज्ञान दूर होगा, उसी से मुख्य तत्व का ज्ञान होगा। समस्त पुराणों का उपदेश भगवान् ने ही ब्रह्माजी को दिया है। यही सबसे प्राचीन ज्ञान है, इसी से इन्हें पुराण कहते हैं। प्राचीन होने पर भी जो नित्य नई ही दिखाई दे, जो निरन्तर सुनने पर भी कभी पुरानी न हो वे ही पुराण हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सत्यव्रत जब सप्तर्षियों के साथ प्रलय के जल में नौका में बैठ गये और उस नौका को वासुकी की रस्सी से मत्स्य भगवान् के सींग में बाँध दिया, तब भगवान् उसे खींचते हुए इधर से उधर घूमने लगे। उसी समय महाराज ने भगवान् से तत्वज्ञान की जिज्ञासा की भगवान् ने भी महाराज के पूछने पर सृष्टि का यथार्थ रहस्य समझाया और उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। सहस्र युग पर्यन्त जब तक ब्रह्माजी की रात्रि रही, तब तक भगवान् सप्तर्षियों सहित राजा को उपदेश देते रहे। उसी का नाम मत्स्य पुराण संहिता है। यह आत्म रहस्य युक्त महापुराण बड़ा ही दिव्य है। इसमें सांख्य, योग तथा कर्मकाण्ड सभी का वर्णन है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप तो कह रहे हैं कि जितने समय में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि

था। उस दैत्य का बध करके जिन्होंने वेदों का उद्धार किया तथा सप्तर्षियों के सहित सत्यव्रत राजा को जिन्होंने ब्रह्म का उपदेश दिया उन अखिल जगत् के हेतु कपट से मछली बने प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

इन चारों युगों की चौकड़ी हजार बार बीत जायँ उतने समय की ब्रह्माजी की रात्रि होती है। उतने दिनों तक भगवान् उपदेश देते रहे। भगवान् के उस उपदेश का ही नाम मत्स्यपुराण है। वर्तमान मत्स्यपुराण में लगभग १४ हजार श्लोक हैं। प्रलय की रात्रि पर्यन्त भगवान् ने इतना ही उपदेश दिया क्या ? इसका तो आदमी लगकर पाठ करे तो २-३ दिन में कर सकता है। इस पर हँसते हुए सूतजी ने कहा—"महाभाग ! मत्स्य पुराण इतना ही नहीं। मत्स्य पुराण तो अनन्त है जैसे कि भगवान अनन्त हैं। फिर भी उस अनन्त जल राशि में से भगवान् वेद व्यास ने लोक कल्याणार्थ एक पृथक् संहिता प्राणियों के हितार्थ बना दी है, जिससे थोड़े में उनका मनोरथ पूर्ण हो जाय। उन्हें ज्ञान हो जाय।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"तब यह मत्स्य पुराण पूर्ण नहीं हुआ। इस संक्षिप्त लघु पुस्तिका से समस्त अज्ञान दूर नहीं हो सकता, क्योंकि राजर्षि सत्यव्रत को तथा सप्तर्षियों को ज्ञान तो सहस्रयुग पर्यन्त पूर्ण पुराण सुनने पर हुआ था।"

इस पर सूतजी हँसते हुए बोले—"महाभाग ! यह भी पूर्ण ही पुराण है और इतने से ही समस्त अज्ञान दूर हो सकता है।"

शौनकजी ने कहा—सो कैसे ?

सूतजी ने कहा—"देखिये महाराज ! सगर के ६० हजार पुत्र नष्ट हो गये थे, उनके उद्धार के लिये गंगाजी को लाना था। सगर के पौत्र अंशुमान् ने गंगाजी को लाने के लिये हजारों वर्षों तक तपस्या की, न ला सके। अंशुमान् के पुत्र दिलीप

हुए। दिलीप ने भी गंगा लाने को हजारों वर्ष घोर तपस्या की। तपस्या करते करते मर गये, वे भी गंगा न ला सके। दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए। उन्होंने भी हजारों वर्ष घोर तपस्या की। तब कहीं जाकर वे गंगा जी को लाये और उसके अमृतमय जल से अपने पितरों का उद्धार किया। भगीरथ जिस गंगा को लाये उसमें अनन्त जल है। उसी गंगा में आकर सब स्नान करते हैं, अपने पापों को धोते हैं। स्नान करके जब लोग घर जाने लगते हैं, तब कोई पीतल के बर्तन में, कोई तांबे के, कोई शीशा अथवा मिट्टी के छोटे छोटे बर्तनों में गंगाजल भरकर घर ले जाते हैं। सबसे कहते हैं, हम गंगाजी लाये हैं। तो क्या वे पूर्ण गंगा जी नहीं हैं? क्या उनका एक कणजल समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ नहीं है? कहना पड़ेगा वे पूर्ण गंगा हैं, और जो गुण गंगा जी की अनन्त धारा में थे, वे सब उस पात्र की गंगा जी में भी हैं। इसी प्रकार मत्स्य पुराण रूपी निरन्तर बहने वाले अनन्त ज्ञानराशि वाली धारा में से साधारण लोकों पर कृपा करके भगवान् व्यास ने इस संहिता का निर्माण किया है। जिस प्रकार गंगा जल का एक बिन्दु समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ है, उसी प्रकार इस एक ही संहिता से समस्त अज्ञान दूर हो सकता है।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! जब प्रलय के समय कोई जीव बचता नहीं तो ये सत्यव्रत जी कैसे बच गये?

सूतजी बोले—"महाराज! भगवत् कृपा के आगे कोई भी बात असंभव नहीं। इन राजर्षि ने घोर तपस्या की थी। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी इनके सम्मुख प्रकट हुये और

इनसे वरदान माँगने को कहा। तब इन्होंने यही वरदान माँगा कि 'भगवन्! हम समस्त प्रलयकालीन दृश्य को स्वयं अपनी आँखों से देखें और प्रलय के अन्त में सभी जीवों की उत्पत्ति हम से ही हो।' ब्रह्माजी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गये। उसी वरदान के प्रभाव से भगवान् ने कृपा करके मत्स्य रूप धारण करके राजर्षि सत्यव्रत को अपनी समस्त महिमा दिखाई। जब उस ब्रह्मरात्रिका अंत हो गया, तब वे ही राजा इस वर्तमान कल्प में सूर्य के पुत्र श्राद्धदेव होकर विख्यात हुए जिन्हें भगवान् ने मनु पद पर नियुक्त कर दिया है। आज कल हम सब इन्हीं मनु के शासन में रहकर इस पौराणिकी "भागवती कथा" की चर्चा कर रहे हैं। अब आगे जैसे मेरे गुरुदेव श्री शुक ने मत्स्य भगवान् का चरित्र कहा था, उसे सुनाकर फिर मैं इन विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव मनु के वंश का वर्णन करूँगा।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार प्रलय का रात्रि पर्यन्त भगवान उपदेश देते रहे। जब प्रलय की रात्रिका अन्त हुआ और ब्रह्माजी के जागने का समय आया, तब भगवान को ध्यान हुआ—'अरे, वेदों को तो तम-प्रधान हयग्रीव हर ले गया है। जब तक ये निद्रित हैं वेदहीन हैं, तब सृष्टि कैसे हो। अतः अन्तःकरण रूप पाताल में प्रभु ने प्रवेश करके आलस्य रूप असुर को मारकर ज्ञान रूप वेद को लाकर ब्रह्माजी को चेत कराया। निद्रा को छोड़कर आंख मलते हुये ब्रह्माजी उठ खड़े हुए। चेतना ज्ञान होने से उठते ही फिर सृष्टि के कार्य में लग गये। विचारों के सागर में मत्स्य रूप भगवान् नित्य विहार करते हैं, जिनका सत्यव्रत है, वे ही उनका साक्षात्कार करते हैं।

नित्य ही आकर हयग्रीव रूपी आलस्य हमारे ज्ञान वेद अथवा बोध को हर ले जाता है हम बोधहीन हुए मृतकवत् निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं। कभी न सोने वाले वे मत्स्य भगवान् नित्य ही उस हयग्रीव दैत्य को मार कर हमें बोध कराते हैं ज्ञान प्रदान करते हैं। हम अपने कलके अपूर्ण कामों को पूर्ण करने में लग जाते हैं, किन्तु जीवन भर करते करते भी हमारे काम कभी पूर्ण नहीं होते, क्योंकि हमने अपूर्ण का आश्रय ले रखा है। यदि पूर्ण का आश्रय लें तब तो पूर्ण निकालने पर पूर्ण जोड़ने पर पूर्ण ही रह जायगा। यही इस मत्स्यावतार चरित्र का आध्यात्मिक रहस्य है।

जो इस सत्यव्रत और माया मत्स्य रूप श्रीहरि के सुख सम्वाद को सुनते हैं, पढ़ते पढ़ाते हैं, श्रद्धा सहित गाते गवाते हैं उनके सभी संसार बन्धन अविलम्ब कट जाते हैं। इसमें संदेह नहीं, संशय नहीं, भ्रम नहीं, अत्युक्ति नहीं और व्यर्थ प्रलोभन नहीं। यह ध्रुव सत्य है। यह सब को सुख देने वाली मत्स्य भगवान् की पावन कथा है। जो इसका श्रद्धा से कीर्तन करते हैं उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में आपसे मत्स्यावतार की कथा कही अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज! आप उस अधूरी कथा को पूरी कीजिये, जो आपने यह कह कर छोड़ दी थी कि इसका आगे वर्णन करूँगा।"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन्! मुझे तो स्मरण नहीं है। कथाओं के प्रवाह में मैं भूल जाता हूँ, आप स्मरण दिलावें।

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! आपने जो एक कल्प में १४ मन्वन्तर बताये थे। उनमें ७ बीते हुए मन्वन्तरों का तो आपने पीछे वर्णन किया। आगामी ६ मन्वन्तरों का आपने केवल नाम निर्देशमात्र कर दिया था। मैंने भी सोचा। जो बीत गये, उनसे तो शिक्षा ली भी जा सकती है, किन्तु जो अपने आने वाले हैं, वे तो अभी भविष्य के गर्भ में छिपे हैं, उनके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। सम्हालने वाली बात तो वर्तमान की है। अतः मैंने पूछा था इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की कथा आप मुझे सुनावें किन्तु फिर बीले वामन का प्रसंग चल पड़ा उसी प्रसंग में मत्स्यावतार के प्रसंग में ही विदित हुआ कि जिन राजर्षि सत्यव्रत को मत्स्य भगवान् ने उपदेश दिया वे ही आकर इस कल्प में विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। आपने वहीं बताया था कि वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु आदि पुत्र हुए। सो, भगवन्! अब इन सब राजर्षियों के चरित्रों को मुझे विस्तार के साथ सुनावें। क्योंकि ये ही मनु तो हमारे पूर्वज है। हम भी तो इन्हीं के वंश मे हैं। इस मनु वंश की कथा सुनने से तो हमें बड़ा आनन्द आ जायगा। इस मन्वन्तर मे बहुत से अवतार हुए हैं। अतः अब तक जो राजा हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं और जो मुझसे आगे राजा होंगे, उन सबका आप चरित्र मुझे सुनावें। इन सब पवित्र कीर्ति राजर्षियों पर भगवान् ने कृपा की है, इनके निमित्त भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये हैं। हमने सुना है इसी वंश में पूर्णावतार आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अवतार लेकर नाना क्रीड़ायें की हैं। अतः पहिले इनके वंश को सुनाइये, तब मेरे आराध्य देव भगवान के चारु चरित्रों को मेरे कानों में उड़ेल दीजिये। आज चौथा दिन

तो हो ही गया भगवान् और उनके आश्रित भक्तों की कथा सुनते सुनते ही मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से प्रायोपवेशन व्रत लिये हुए महाराज परीक्षित् ने यह प्रश्न किया तब वे राजा की उत्सुकता देखकर बड़े प्रसन्न हुए और राजा की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन्! आप कथा के तार को टूटने नहीं देते। प्रसंग को चालू ही रखते हैं। अप्रासंगिक प्रश्न भी नहीं करते। मनुवंश का विस्तार से वर्णन तो हजारों वर्षों में भी नहीं हो सकता। फिर इन साढ़े तीन दिनों में मैं पूर्ण मनुवंश का वर्णन कैसे कर सकता हूँ। आवश्यकता भी नहीं। इनमें जो मुख्य मुख्य भगवद्भक्त पुण्यकीर्ति राजा हो गये हैं उनके चरित्रों के मिस से मैं आपको भगवान के चरित्र सुनाऊँगा। आप ध्यान से सुनें।" राजा को ऐसा कहकर श्रीशुकदेवजी उन्हें वैवस्वत मन्वन्तर के राजाओं की वंशावली और चरित्र सुनाने को उद्यत हुए।

छप्पय

परम पुण्यप्रद मत्स्य चरित जे सुनें सुनावें।
प्रभुपद प्रकटै प्रेम परमपद ते नर पावैं॥
सुन शफरी हरि चरित परीक्षित् अति हरषाये।
कथा प्रसंग चलाय मार्मिक वचन सुनाये॥
तेरह मन्वन्तर कथा, नाथ कृपा करिकैं कही।
वैवस्वत मनु वंशकी, पढ़हु कथा जो बचि रही॥

वैवस्वत मनुके वंश का वर्णन

(५८६)

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतपः।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्ष शतैरपि ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

बोले श्रीशुक श्राद्धदेव मनु वंश सुनहु अब।
महाकल्प पश्चात् शयन सर्वेश करैं जब ॥
होहि निशा को अन्त नाभि तैं प्रकटै पङ्कज।
तातैं ब्रह्मा होहि चतुर्मुख कमलासन अज ॥
मनतैं पुत्र मरीचि मुनि, तिनके कश्यप प्रजापति।
विवस्वान तिनके तनय, जिनको जगमहँ तेजअति ॥

आर्य शास्त्रों में पूर्ण वर्णन करने की प्रथा है, जिस वर्णन को करेंगे, उसका पूर्ण परब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करके अन्त में पूर्ण में ही उसका अवसान कर देंगे। जैसे अग्नि से ही विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्त मे अग्नि

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तुम मनुवंश का वर्णन संक्षेप में सुनो। विस्तार से मनुवंश का वर्णन तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।

में ही मिल जाती हैं। कोई बड़ी चिनगारियाँ होती हैं कोई छोटी। कोई पतली होती हैं कोई मोटी। कोई अधिक काल प्रकाश करती हैं, कोई उत्पन्न होते ही बुझ जाती हैं। वे सब ही अग्नि का स्वरूप ही हैं। अग्नि से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं, अस्तित्व नहीं, इसी प्रकार ये प्रजापति, मनु, मनुपुत्र देवता इन्द्र तथा चराचर जगत् उन्हीं विश्वम्भर की लीला का विलासमात्र है। किसी के एक दिन में कई जन्म हो जाते हैं, कीड़े पतंगे दिन में कई बार मरते जीते हैं। कोई पलभर जीते है, किसी की आयु महीनों की है, कोई वर्ष भर जीते हैं। कोई अपने को शतायु कहते हैं। बहुत से दिव्य वर्षों से १०० वर्ष जीते हैं, कोई मन्वन्तर पर्यन्त, कोई कल्पपर्यन्त और महाकल्प पर्यन्त। जीव सब हैं एक से ही। अन्तर इतना है, जो भगवद् भक्त हैं, प्रभु कृपा पात्र हैं, वे प्रभुमय बन जाते हैं। उनके चरित्र श्रवण करने से भगवद् भक्ति का उदय होता है। परमार्थ का पथ परिष्कृत होता है। अतः पुण्यश्लोक पवित्र कीर्ति पुरुष के पावन चरित्र का प्रतिदिन पारायण करना चाहिये। उन्हीं के श्रवण मनन चिन्तन में समय लगाना चाहिये। यही समय की सार्थकता है।

जब महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से वर्तमान मनु के वंश का वर्णन करने का आग्रह किया तो व्यासनन्दन भगवान शुक ने संक्षेप में विवस्वान् के वंश की उत्पत्ति बताते हुए कहना आरम्भ किया। श्रीशुक बोले—"राजन! यह इस मन्वन्तर का अट्ठाईसवाँ कलियुग चल रहा है। अर्थात् इस मन्वन्तर में २८। २८ बार चारों युग बीत गये। एक मनु लगभग ६२ चौकड़ी से कुछ अधिक समय तक शासन करते हैं।

मन्वन्तर के आदि में वे अपने पद पर प्रतिष्ठित होते हैं। तभी वे प्रजा पालन के लिये पुत्र उत्पन्न करते हैं। जिनके वंशज मन्वन्तर पर्यन्त इस पृथ्वी का पालन करते हैं। यदि मैं २८ चौकड़ियों में होने वाले सभी राजाओं के नाम ही वर्णन करू तो सैकड़ों युगों मे भी पूरे न होंगे। अतः मैं संक्षेप में मनु वंश कहूँगा। आप श्रद्धा सहित सुनें

सब के स्वामी तो वे सच्चिदानन्द सर्वेश्वर परात्पर प्रभु ही हैं। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, सृष्टि की बात तो कौन कहे। वे नारायण ही जब इच्छा करते है, इस जगत् को बना लेते हैं, स्वयं ही पालन करते हैं, और जब चाहते हैं इच्छानुसार इसे समेट कर अपने पेट में रखकर सो जाते हैं। सो क्या जाते हैं झूठे ही आँखें मींच लेते हैं। आँख भी पूरी नहीं मींचते। अब उसे क्या कहें, ऐसे ही कुछ पैर समेट कर पड़ जाते हैं। फिर वे काल की प्रेरणा से आँखें खोलते हैं। आँखे बन्द हों तो खोले, ये सब औपचारिक शब्द हैं।

हाँ, तो राजन्! भगवान् जब योग निद्रा में शयन कर जाते हैं और फिर जब सृष्टि का समय आता है, तो कालकी प्रेरणा से भगवान् की नाभि से कमल उत्पन्न होता है। वह सुवर्णमय दिव्य कमल ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण हैं। उस कमल से ही चतुर्मुख ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है वे ब्रह्माजी ही इस चराचर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। अपने समान ही वे प्रजापतियों को मन से रचते हैं। वे प्रजापति ही नाना प्रकार की योनियों वाले जीवों के जनक हैं। वे प्रजाओं के पिता कहलाते हैं और ब्रह्माजी पितामह। सृष्टि जैसे पहिले थी वैसी

ही हो जाती है। महाराज! इन सब बातों को मैं पीछे समझा आया हूँ। इस समय तो मुझे इस मन्वन्तर के अधिपति वैवस्वत मनु श्राद्ध देव की वंशावली बतानी है।

श्रीमन्नारायणजी से ब्रह्मा, ब्रह्माजी के मन से प्रजापति मरीचि हुए। मरीचि के परम प्रतापी चराचर प्राणियों को उत्पन्न करने वाले भगवान् कश्यप हुए। कश्यप की अदिति, दिति, काष्ठा आदि १३ पत्नियां हुईं। बड़ो दिति के दैत्य हुए। आदिति के आदित्य हुए। १० आदित्यों में एक विवस्वान् (सूर्य) भो है। विवस्वान् का विवाह विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा के साथ हुआ। संज्ञा ने ही छाया और बडवा ये दो रूप और रख लिये थे। यह कथा मैं पीछे बता चुका हूँ। संज्ञा के गर्भ से हो श्राद्धदेव का जन्म हुआ। ये श्राद्धदेव ये ही राजर्षि सत्यव्रत हैं, जिन्होंने प्रलय के जल में मत्स्य भगवान् के साथ जल विहार किया था। इस कल्प में विवस्वान् के पुत्र होने से ये वैवस्वत मनु कहाये। भगवान् ने इन्हें कारक पुरुष बना कर मनु पदपर प्रतिष्ठित कर दिया है। महाराज! आजकल हम वैवस्वत मन्वन्तर में ही कार्य कर रहे हैं। हमारे वर्तमान मनु वैवस्वत ही हैं। इन्हींके वंशज मनुपुत्र इस वसुन्धरा का उपभोग कर रहे हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"तब तो भगवन्! हमें आप वैवस्वत मनु की कथा सुनावें। हमारे पूर्वज तो ये ही हैं। इन्होंने किसके साथ विवाह किया और इनके कितने पुत्र हुए ?"

श्री शुक बोले—"राजन्! वैवस्वत मनु की पत्नी का नाम श्रद्धा था। उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष,

नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये १० पुत्र हुए। समस्त क्षत्रियवंश की उत्पत्ति इन दशों से ही है। इन क्षत्रियों के वंशज ही एक मन्वन्तर पर्यन्त इस पृथिवी का शासन करेंगे। सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र वैवस्वत मनु (श्राद्ध देव) उनके इक्ष्वाकु आदि १० पुत्र हुए इनके जो भी वंश में हुए वे सब के सब सूर्यवंशी क्षत्रिय कहलाये।इन्हीं वैवस्वत मनु से चन्द्रवंशी क्षत्रियों की भी उत्पत्ति हुई।

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवान ! हम लोग तो अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय ही कहते हैं। महाराज वैवस्वत के दशपुत्रों में से किस पुत्र से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई? सूर्य के वंश में होने पर भी वे चन्द्रवंशी क्यों कहलाये ?"

इसपर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! तुमतो कथा के मूल में पहुँच कर प्रश्न करते हो। इन इक्ष्वाकु आदि दशों पुत्रों से चन्द्रवंश की उत्पत्ति नहीं हुई। इन दशों के वंशज तो सभी सूर्यवंशी ही कहलाये। इनके अतिरिक्त इन से बड़े एक पुत्र महाराज के और थे, उनका नाम था सुद्युम्न। उन सुद्युम्न से ही चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई सुद्युम्न के पुत्र हुए पुरुरवा जो प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा हुए। चन्द्रवंश के ही आदि पुरुष हैं। इन्हीं से चन्द्रवंश का आरम्भ हुआ है। समस्त चन्द्रवंशी क्षत्रियों का निकास झूसी (प्रतिष्ठानपुर) से है और समस्त सूर्यवंशी राजाओं का निकास अयोध्या जी से है। यहीं से सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय निकल कर समस्त पृथ्वी पर फैल गये। कोई म्लेच्छों और यवनों के पति होने से म्लेच्छ और यवन हो गये। कोई निषादों के पति से निषाद हो गये कोई जो वर्णाश्रमी देशों के शासक हुए वे शुद्ध क्षत्रिय रहे।

महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज! यह संदेह तो मुझे रह ही गया। वैवस्वत मनु के जो आपने सुद्युम्न पुत्र बताये उनके वंशज सूर्यवंशी न कहाकर चन्द्रवंशी क्यों कहलाये? महाराज सुद्युम्न की पत्नी का क्या नाम था। पुरुरवा जो चन्द्र वंश के आदि पुरुष हैं उनकी माता का क्या नाम था? जब महाराज सुद्युम्न बड़े, थे, तो पहिले आप मुझे उनकी ही कथा सुनाइये।

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी हँसते हँसते बोले—"महाराज आपके पूर्वज पुरुरवा के पिता भी सुद्युम्न थे और माता भी सुद्युम्न थे। चन्द्रमा के पुत्रजी से उनका संसर्ग हो गया, इसी लिये पिता के सम्बन्ध से इस वंश का नाम चन्द्र वंश हो गया। प्रतीत होता है यह "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" वाला श्लोक तभी से प्रचलित हुआ।"

आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज एक ही पुरुष माता और पिता दोनों कैसे हो गये। यह बड़ी विचित्र बात है। कृपा करके पहिले मेरे कुतूहल को पूर्ण कीजिये! तब आगे की कथा सुनाइये!

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन्! कुतूहल की कोई बात नहीं, यह तो संसार चक्र है। इसमें न कुछ सम्भव न असम्भव। भगवान् क्रीड़ा कर रहे हैं। पुरुष स्त्री बन जाता है, स्त्री पुरुष बन जाती है। बहुत से मरकर पुरुष से स्त्री, स्त्री से पुरुष बन जाते हैं। बहुत से इसी शरीर में पहिले पुरुष होते हैं, फिर स्त्री हो जाते हैं। बहुत सी स्त्रियों को देखा है, वे सर्वथा पुरुष बन गई हैं। पुरुष बनकर उन्होंने विवाह किया है, सन्तानें

उत्पन्न की हैं। इसी प्रकार ये महाराज सुद्युम्न एक बार स्त्री बन गये थे। उन्हीं के गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ!

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! हमारे पूर्वज सुद्युम्न पुरुष से स्त्री क्यों बन गये? उनसे पुरूरवा की उत्पत्ति कैसे हुई। कृपाकर प्रथम इसी वृत्तान्त को मुझे सुना दीजिये। तब सूर्यवंश का वर्णन करें।

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"अच्छी बात है राजन्! पहिले महाराज सुद्युम्न का आपको चरित्र सुनाता हूँ, तब फिर सूर्यवंश का वर्णन करूँगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर भगवान् शुक महाराज सुद्युम्न की कथा सुनाने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

विवस्वान् के पुत्र भये श्रीवैवस्वत मनु।
तिनतैं श्रद्धा माँहि भये दस सुत इन्द्रिय जनु॥
इक्ष्वाकु, शर्याति दृष्टि और धृष्ट, नभग, कवि।
नृग, करूष नरिसन्त पृषध्रहु वंश बिदित रवि॥
इन सबके पहिले भये, सुत सुद्युम्न विचित्र अति।
नरतैं नारी बनि गये, ये विचित्र श्री शम्भु गति॥

महाराज सुद्युम्न की उत्पत्ति

(५६०)

अग्रजस्य मनोः पूर्वं वशिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० १३ श्लो०

छप्पय

श्राद्धदेव सुतहीन यज्ञ पुत्रेष्टि करायो।
मुनि वशिष्ठ आचार्य यज्ञ को साज सजायो॥
रानी इच्छा करी पुत्र नहिँ पुत्री होवे।
होता आहुति दई लोभ संकल्पहिँ खोवे॥
इला नाम कन्या भई, मनु मनमहँ चिन्तित भये।
गुरु सन बोले दुखित है, मंत्र व्यर्थ क्यों है गये॥

जीव सोचता है कुछ हो जाता है कुछ। भाग्य को कोई म[illegible] नहीं सकता। कर्म की रेखपर मेख मारना अत्यन्त कठिन [illegible] जाता है। भगवान् की इच्छा से ही यह सब हो रहा है। जीव त[illegible] उन्हीं की प्रेरणा से चेष्टा करता है। उन्हीं की शक्ति से सभी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पहिले वैवस्वत मनु के कोई सन्तान नहीं थी अतः पुत्र की कामना से भगवान् वशिष्ठ द्वारा उन्होंने मित्रावरुण पुत्रेष्टि यज्ञ कराया।

शक्तिशाली बनते हैं। उनकी शक्ति सर्वोपरि है। उनका सङ्कल्प ही सत्य है, और सब तो मिथ्या है। जग जंजाल हैं। अतः उनकी इच्छा में इच्छा मिला देना यही कर्तव्य है, यही प्रधान साधन है। यही पुरुषार्थ है। यही जप, तप, भजन, पूजा, पाठ तथा सब कुछ है। अतः सबमें उन्हीं की इच्छा समझकर सभी को उन्हीं की क्रीड़ा समझनी चाहिए।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे महाराज सुद्युम्न की कथा पूछी थी सो मैं आपको सुनाता हूँ। विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेव (वैवस्वत मनु) का विवाह सौभाग्यवती श्रद्धा देवी के साथ हुआ। विवाह हुए बहुत दिन हो गये, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। महाराज! गृहस्थियों का सब से बड़ा दुःख है सन्तान का न होना। विवाह सन्तान के ही लिये किया जाता है, गृहस्थ सुख का उपभोग करे, और वंश विच्छेद न हो, हमारी कुल परम्परा अक्षुण्य बनी रहे हमें जो शरीर मिला है, पिता पितामह आदि के न्यास रूप में मिला है। जैसे पिता पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ गये हैं, वैसे ही पुत्र का भी कर्तव्य है कि वह भी पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ जाय। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे पितृऋण से मुक्त नहीं होते। उन पुत्र हीनों की गति नहीं। वे अपने पितरों को भी नरक में डालते हैं, स्वयं भी नरक जाते हैं। हाँ, जिन्होंने अपने को सर्वात्मभाव से श्री हरि को अर्पित कर दिया हो, जगत् से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लिया हो, उनकी तो बात ही पृथक है। उनके लिये तो कुछ कर्तव्य ही नहीं गृहस्थ के लिये पुत्र होना आवश्यक है, यही गार्हस्थ्य धर्म की सफलता है।

जब राजा को चिरकाल तक सन्तान न हुई तब उन्होंने अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ को बुलाया और हाथ जोड़कर

विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! आप सर्वसमर्थ हैं, दूसरे ब्रह्मा की भाँति नूतन सृष्टि कर सकते हैं। मेरे कोई सन्तान नहीं। इसके लिये आप कुछ उद्योग करें।"

यह सुनकर वशिष्ठ जी ने कहा—'राजन्! देवताओं की कृपा से ही पुत्रादि सुखकर पदार्थों की प्राप्ति होती है। देवता मंत्राधीन होते हैं। सदाचार से शुद्धता पूर्वक परम्परा के अनुसार विधिवत् धारण किये हुए मंत्र कभी व्यर्थ नहीं होते। उनके उच्चारण मात्र से ही विवश होकर देवता खिंचे चले आते हैं और उपासक की कामना को पूर्ण करते हैं। मैं आपको मित्रावरुणदेव के उद्देश्य से पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा। उसके करने से आपको अवश्य पुत्र की प्राप्ति होगी।

यह सुनकर राजा परम प्रसन्न हुए और बोले—"भगवन्! वह यज्ञ आप अवश्य कराइये। जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता हो उन उन को अविलम्ब एकत्रित कराइये। जिन जिन ऋषियों को होना, ऋत्विज तथा अध्वर्यु आदि बनाना हो उन सब को बुलाइये। पुण्य कार्य जितना भी शीघ्र हो सके उतना ही शीघ्र उसे सम्पन्न कर देना चाहिये। पीछे कौन जाने क्या हो?"

राजा की ऐसी उत्सुकता देखकर वशिष्ठ जी ने कहा—"राजन्! मैं यज्ञ की सब सामग्रियों को एकत्रित कराता हूँ। आप अपनी पत्नी के साथ यज्ञ की दीक्षालें और जबतक यज्ञ सम्पन्न हो आप अपनी पत्नी के सहित केवल दूध पीकर ही रहें।"

वशिष्ठ जी की आज्ञा शिरोधार्य करके राजा ने यज्ञ की दीक्षाली और केवल दुग्धाहार करके वे दीक्षित पत्नी के साथ

रहने लगे। प्रारब्ध वश उनकी पत्नी के मन में एक विचार आया, कि पुत्र होगा तो बाहर रहेगा और पुत्री हुई तो महलों में सदा मेरे पास ही रहेगी। अतः किसी प्रकार इस यज्ञ से पुत्री होती तो उत्तम था।"

अपने विचार को राजा से तो कह ही कैसे सकती थी। जिस दिन पूर्णाहुति का समय आया रानी होता के समीप गई और प्रणाम करके चुप के से बोली—"ब्रह्मन्! मेरी इच्छा ऐसी है कि हमारे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। आप ऐसा उद्योग करें, कि मेरी इच्छा पूरी हो जाय। पुत्र सम्बन्धी मंत्र न पढ़ कर पुत्री सम्बन्धी मन्त्र पढ़कर हवन किया जाय।" यह कहकर रानी ने उनकी पूजा की। महाराज! पूजा से तो देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं, फिर इन कर्मकांडी ब्राह्मणों से तो पूजा करके जो चाहो सो करालो। होताजी ने यह बात स्वीकार करली।

जब अध्वर्यु ने ब्राह्मण होता को हवि छोड़ने की प्रेरणा की तब उसने राजा की पत्नी के संकल्प को स्मरण करते हुए उसी भावना से वषट्कार का उच्चारण करते हुए हवि छोड़ी। सृष्टि तो भाव प्रधान है। जैसा संकल्प होगा, वैसा ही फल होगा।

यज्ञ समाप्त हुआ। यज्ञोच्छिष्टचरु ब्राह्मणों ने राजा को दिया। राजा ने उसे सूँघकर रानी को दिया। रानी ने उस हवि को संतान की कामना से खा लिया। उसके गर्भ रह गया और समय पाकर उनके उदर से एक कन्यारत्न का जन्म हुआ।"

राजा पुत्र की आशा लगाये बैठे थे। पुत्री के जन्म से उनका वन्ध्यापति का दोष तो छूट गया, किन्तु उन्हें प्रसन्नता नहीं

हुई। वे वंशधर पुत्र चाहते थे। उन्होंने अपने कुल गुरुवशिष्ठ

को बुलाकर कहा—"ब्रह्मन्! तो आपने वेदों को यथाविधि

धारण किया है। आपके मन्त्रों की शक्ति तो अमोघ है, यह कभी व्यर्थ तो हो ही नहीं सकती। फिर मेरे यज्ञ में यह विपर्यय फल कैसे हुआ। मैंने तो पुत्र की इच्छा से पुत्रेष्टि यज्ञ किया था। फिर पुत्री कैसे उत्पन्न हुई।"

यह सुनकर वशिष्ठ जी को भी आश्चर्य हुआ उन्होंने कहा—"राजन्! हमने मन्त्रों को विधिवत् गुरु शुश्रुषा करके नियम संयम पूर्वक जितेन्द्रिय होकर धारण किया है। हमारी विद्या कभी निष्फल या विपरीत फल वाली हो ही नहीं सकती। अवश्य ही यज्ञ में कोई भाव या विधि सम्बन्धी त्रुटि रह गई है। मै समाधि द्वारा उसे देखता हूँ। यह कह कर वशिष्ठ जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से सब बातें जान लीं और सरलता के साथ बोले—"राजन्! आपके आधे अंग ने ही गड़बड़ कर दी। आपकी पत्नी का संकल्प विपरीत हो गया। इसीलिए होता ने नियम के विपरीत आचरण कर डाला। मन्त्रों का इसमें कुछ दोष नहीं है। आपकी रानी की इच्छा से यह सब कुछ हुआ।"

उदास होकर महाराज श्राद्धदेव मनु बोले—"तो भगवन्! अब क्या होना चाहिए?"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अब तुम जैसा कहो वैसा हो जायगा।"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! जब आप

मन्त्रों से पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं, तो क्या आपके मन्त्रों में इतना प्रभाव नहीं है, कि इस लड़की का लड़का बना दो।"

शीघ्रता से वशिष्ठ जी बोले—"है क्यों नहीं मैं इस लड़की का ही अपने तपोबल से लड़का बना दूँगा।

वैवस्वत मनु बोले—"तब भगवन्! ऐसा ही कीजिये। इसका लड़का ही बना दीजिये।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अभी तो मैं इसका लड़का बनाये देता हूँ, आगे भगवान् जाने। यह कहकर भगवान् वशिष्ठ ने उस लड़की को अपने मन्त्र तथा तपोबल से लड़का बना दिया। जब वह लड़की थी तब उसका नाम इला था। लड़का होने पर इन्हीं का नाम सुद्युम्न हुआ। इस प्रकार आदि पुरुष भगवान् नारायण की उपासना और वरके प्रभाव से वशिष्ठ जी ने दुष्कर कर्म किया क्षण भर में पुत्री को पुत्र बना दिया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तपस्या के प्रभाव से ऋषिगण क्या नहीं कर सकते। महाराज वैवस्वत उस पुत्र को पाकर उसका बड़ी सावधानी से लालन पालन करने लगे। कालान्तर में यह लड़का युवा हो गया। वह बड़ा पराक्रमी था आखेट करने का उसे बड़ा व्यसन था। वह पर्वतों में वनों में दूर दूर तक आखेट को चला जाता। उसे नित्य नूतन वनों में, पहाड़ों में, दुर्गम स्थानों में, हिम प्रधान प्रदेशों में पर्यटन

करना अत्यन्त प्रिय था। वहाँ बड़े बड़े पर्वतों को लाँघ जाता जङ्गम और कठिन मार्गों में वह निर्भय होकर चला जाता। उसके इस कार्य से उसके अनुचर सन्तुष्ट तो नहीं थे, किन्तु राजपुत्र का विरोध कैसे करते। अतः जहाँ वह जाता उसके अनुचर भी उसका अनुगमन करते। इस प्रकार वह नये नये देशों में घूमने लगा।

छप्पय

मुनि वशिष्ठ धरि ध्यान कहैं सब ज्ञान भयो अब।
रानी सम्मति मान करयो होता कौतुक सब॥
किन्तु न नृप घबराउ मन्त्र बल देखो मेरो।
पुत्री तैं करि पुत्र करौं हौं कारज तेरो॥
यों कहि प्रभु विनती करी, ह्वै प्रसन्न हरि वर दयो।
सुता इला मुनि कृपाते, पुनि सुद्युम्न कुमर भयो॥

स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥[१]

(श्री० भा० ९ स्क० १ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस सुद्युम्न सेन सजि मृगया खेलन।
होहि अश्व असवार गयो सँग सचिवनि के वन ॥
मृग लखि पीछो करयो अश्व अपनो दौरायो।
गिरि सुमेरु ढिँग खण्ड इलावृत महँ नृपआयो ॥
परी दृष्टि जब देह पै, नर ते नारी बनि गये।
परम चकित इत उत लखत, सब घोड़ा घोड़ी भये ॥

एक पौराणिक कहानी है, कि किसी ऋषि ने पुत्र प्राप्ति के

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक दिन कुमार सुद्युम्न सुमेरु गिरि के निकले प्रदेश के वन में प्रवेश कर गया, जहाँ भगवान् पशुपतिनाथ पार्वती के साथ रमण कर रहे थे। उस वन में घुसते ही परपक्षहन्ता कुमार सुद्युम्न ने अपने को स्त्री तथा अपने घोड़े को घोड़ी के रूप में देखा।

लिये घोर तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान प्रकट हुए। उसने भगवान् से पुत्र माँगा। भगवान् ने कहा—"भाई पुत्र तेरे भाग्य में नहीं है। पुत्र के अतिरिक्त तू और जो चाहे माँगले।"

उसने कहा—"महाराज! मुझे तो पुत्र ही चाहिए मैं और कुछ नहीं माँगता।"

भगवान् बार बार अपनी असमर्थता दिखा रहे थे वह बार बार पुत्र ही माँग रहा था। इस पर गरुड़ जी को बड़ा दुख हुआ। वे बोले—"प्रभो! आप चराचर की सृष्टि, स्थित और संहार करने वाले हैं। आपके लिये पुत्र क्या वस्तु है। दे दो एक पुत्र।"

भगवान् ने गरुड़ जी से कहा—"भाई, तुम ही क्यों नहीं दे देते। तुम भी तो मेरे भक्त हो सर्वसमर्थ हो।"

गरुड़ जी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! मैं देता हूँ।" यह कहकर गरुड़ जी ने उसे एक पुत्र होने का वर दे दिया। कालान्तर में उनके एक पुत्र हुआ। जिसका नाम उन्हों-ने शुकदेव रखा। १२ वर्ष के पश्चात् वह लड़का फिर मर गया। वह ब्राह्मण अत्यन्त दुखी हुआ और एक महीने तक विना खाये पिये वर्षा में पड़ा रहा।

कथा का सार इतना ही है, कि जो भाग्य के विपरीत हठ पूर्वक कार्य किया जाता है, उसका फल स्थाई नहीं रहता। कुछ काल में तप आदि का प्रभाव क्षीण होने से फिर वह जैसा का तैसा ही हो जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन! वैवस्वत मनु की पुत्री इला को वशिष्ठ जी ने सुद्युम्न नामक पुत्र बना दिया। जब

कुमार सुद्युम्न बड़ा हुआ तो एक दिन मृगया करते करते वह बहुत दूर निकल गया। हिमालय को लांघकर वह किंपुरुष खंड में चला गया जहाँ सुवर्ण का दिव्य सुमेरु पर्वत है, जो तीनों लोकों का आधार स्तम्भ है। उस पुण्यमय परमपावन प्रदेशों में पहुँचकर सुद्युम्न को अत्यंत प्रसन्नता हुई। एक मृग के पीछे अपने सिन्धुदेशीय सुन्दर वेगशाली घोड़े को दौड़ाते हुए राजा भूल से उस शिव क्रीड़ा स्वरूप प्रदेश में पहुँच गये। वहां पहुँचते ही वे पुरुष से स्त्री हो गये। उन्होंने अपने अङ्ग-प्रत्यंगों को देखा पुरुषोचित सभी अङ्ग विलीन हो गये थे। स्त्रियों के समस्त चिन्ह उनके शरीर में उत्पन्न हो गये थे। उन्हों-ने अपने घोड़े को देखा, वह भी घोड़ी हो गया था। हाथियों का देखा वे भी सब के सब हथिनी बन गये थे। कुछ क्षण उन्हें ध्यान रहा। फिर वे अपने आपे को भूल गये। अब तो १६ आना अपने को स्त्री ही समझने—लगे मैं आती हूँ, मैं जाती हूँ, मैं खाती हूँ, मैं पीती हूँ, ऐसे बोलने लगे और लीला से नारी सुलभ हाव भाव कटाक्षों को फेंकते हुए अपनी सहेलियों के साथ एक वन से दूसरे वन में घूमने लगे।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! यह तो आप आश्चर्य की सी बात बता रहे हैं। यह तो जादू टौना की सी बात हुई ! उस प्रदेश में प्रवेश करते ही सब के सब पुरुष से स्त्री क्यों बन गये ?"

यह सुनकर श्री शुकदेव बोले—"मनुष्य पर देश और काल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। काल विपरीत हो जाने से अच्छे अच्छों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इसी प्रकार देश के गुणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! ऐसा भी क्या देश का प्रभाव ? कि सर्वथा लिङ्ग विपर्यय ही हो जाय। राजा तो बुद्धिमान् थे, वे अपनी बुद्धि के प्रभाव से उस देशजन्म दोष को हटा क्यों नहीं सके।"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज! यह सब भगवान् की क्रीड़ा है, और कह भी क्या सकते हैं। जो स्थान शापित हो जाता है उसका प्रभाव सब पर पड़ता है। साधारण पुरुषों की बात छोड़ दीजिये। ईश्वरों परभी इसका प्रभाव पड़ता है। देखिये, साक्षात् अवधकुलमंडल रघुकुलतिलक, कौशलिया-नन्दवर्धन, लक्ष्मणहृदयधन जनकनन्दनीजीवन सर्वस्व श्री राघव के लघुभ्राता लक्ष्मिसम्पन्न उनके वाह्य प्राण स्वरूप, शिष्य, सेवक, अनुज, बन्धु, मित्र मन्त्री और परम प्रेमास्पद श्री लक्ष्मणजी पर भी स्थान का कैसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि वे श्री भगवान् के प्रति और जगज्जननी जगदम्बिका सीता जी के प्रति भी कैसे अंडबंड वचन बोलने लगे।"

यह सुनकर चौंकते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आप तो एक से एक विचित्र कथा कहकर हमारे कुतूहल को अत्यधिक बढ़ा देते हो। महाभाग! ऐसा तो हमने कभी सुना नहीं कि अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले लक्ष्मणजी अपने इष्ट के प्रति कोई अनुचित बात कह सकें। यह कब की बात है, कब ऐसा हुआ? क्यों लक्ष्मणजी ने भगवान् राम और भगवती सीता के प्रति अंड बंड वचन कहे। इस कथा को पहिले सुनाकर तब हमें सुद्युम्न की कथा सुनावें। इसे सुनने को हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इसपर सूत जी बोले—"महाराज! लक्ष्मण जी श्री राम के प्रति या जगज्जननी सीता जी के प्रति ऐसे वचन थोड़े ही कह सकते हैं। यह तो भगवान् ने स्थान का महत्व प्रकट किया था। अच्छी बात है सुनिये, पहिले मैं उसी कथा को आपको सुनाता हूँ।

किसी कल्प की बात है कि श्री रामजी चित्रकूट से वनवास के समय अत्रि मुनि की आज्ञा से पुष्कर क्षेत्र गये। वहाँ मार्कंडेय मुनि से भेंट हुई! मुनिने आज्ञा दी—"राम! यह पुष्कर क्षेत्र बड़ा पुण्यप्रद है। तुम यहाँ अपने पितरों का श्राद्ध करो।" दशरथजी ने भी स्वप्न में श्री राम को ऐसा ही आदेश दिया। पिता की इच्छा और मुनि की आज्ञा पाकर श्री रामचन्द्र जी ने वन के कंद मूल फलों से विधिवत अपने पितरों का श्राद्ध किया। वहाँ सीता ने प्रत्यक्ष ब्राह्मणों के शरीर में दशरथ जी को देखा। ससुर के सम्मुख बहू कैसे रह सकती है। अतः सीता जी एक झाड़ी में जा बैठीं। श्रद्धादि सम्पन्न हुआ। सब को बड़ा हर्ष हुआ, सबने भोजन किया। एकरात्रि वहाँ रहकर दूसरे दिन ज्येष्ठ पुष्कर पर श्री रामचन्द्रजी गये। वहाँ उन्होंने लक्ष्मण और सीता जी के सहित एक मास पर्यन्त निवास किया। व्रत किया, व्रत की समाप्ती पर श्राद्धादि कर्म किये। वहाँ से कुछ दूर एक स्थान पर जाकर श्री रामचन्द्र ने लक्ष्मण जी से कहा—"हे सौमित्रे! भैया! देखो, तुम यह मेरा कमण्डलु ले जाओ। ज्येष्ठ पुष्कर से जल ले आओ। जिससे हम पाद प्रक्षालन करके यहाँ सुख पूर्वक शयन करें।"

इतना सुनते ही लक्ष्मण जी बोले—"देखिये, महाराज! आप मुझे सदा तंग करते रहते हैं। पानी ला, फल ला, फूल ला,

यह ला, वह ला, । मैंने बहुत दिन तक आपकी दासता की। अब मुझसे न होगी। मैं पानी फानी नहीं ला सकता।"

श्री राम जी ने कहा—"अच्छी बात है, हमहीं ले आवेंगे।"

लक्ष्मण ने लाल आंखें करके कहाँ—"हाँ आप तो ले ही आवेंगे। यह जो इतनी मोटी ताजी सीता तुमने पाल रखी है, इससे क्यों नहीं मँगाते ? यह तो मुझसे भी अधिक मोटी है। फिर भी मेरे ऊपर ही शासन करती रहती है। निरंतर मुझे क्लेश देती रहती है। और तुम भी उसी का पक्ष लेकर मुझे आराम से बैठने नहीं देते। तुम तनिक भी मेरे दुख सुख की ओर ध्यान नहीं देते। इस जानकी को तुमने मुँह लगा रखा है। क्या यह परलोक में तुम्हारा पल्ला पकड़ कर पीछे पीछे जायगी। न इस से काम के लिये कहते हो न धंधा कराते हो। अपने पिता को ही देख लो, कितना धन वैभव उन्होंने एकत्रित किया, कैकेयी को प्रसन्न करके तुम्हें वनमें भेज दिया, उस धन वैभव को यहाँ छोड़ गये। क्या कैकेयी उनके साथ गई ? अब महाराज ! बहुत कहने से क्या प्रयोजन ? मेरी आपकी पटरी अब बैठेगी भी नहीं। आपका दूसरा मार्ग, मेरा दूसरा। यह सीता आपके साथ जाय मैं तो आपके साथ जाने का नहीं। आप इसे भली भाँति पालिये पोसिये।"

भगवान् ने श्री लक्ष्मणजी के मुख से ऐसे अप्रिय, कठोर हृदय को विदीर्ण करने वाले बचन आज तक कभी सुने ही, नहीं थे। इन अश्रुतपूर्व वचनों को सुनकर श्रीराम जी तो भौचक्के से रह गये। उन्होंने लक्ष्मण से एक शब्द भी नहीं कहा। सीताजी भी चुपचाप बैठी सब सुनती रहीं। उन्हें भी

बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उठीं, कमंडलु भरकर पुष्कर से जल ले आईं। श्री राघव के चरणों का प्रक्षालन किया। उनकी शैया बिछाई श्रीरामजी भी खिन्न मन होकर सो गये। उन्हें लक्ष्मणजी के इस व्यवहार पर दुःख हो रहा था।

प्रातःकाल होने पर श्रीराम ने बड़े मधुर स्वर में लक्ष्मण जी से कहा—"भैया, लक्ष्मण! उठो! चलो, दक्षिण दिशा की ओर चलें।"

यह सुनकर लाल लाल आँखें करके लक्ष्मण जी ने कहा—"हे कमलनयन राघव। आप अकेले ही इस सीता को लेकर चले जायँ। मैं आपके साथ नहीं जाऊँगा।"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"अच्छी बात है, तुम मेरे साथ मत चलो, जिस वन में तुम्हारी इच्छा हो उस वन में चले जाओ।"

लक्ष्मण जी ने कहा—"नहीं, मैं दूसरे वनमें भी न जाऊँगा।"

तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, वनमें मत जाओ अयोध्याजी को ही लौट जाओ।"

लक्ष्मण जी ने सिर हिला कर कहा—"नहीं, महाराज! मैं अयोध्या भी नहीं जाऊँगा। इसी वनमें आपसे पृथक् रह कर १४ वर्ष तप करूँगा। फिर मेरी जो इच्छा होगी वह करूँगा। आप मेरी चिन्ता न करें।"

स्नेह के साथ रघुनन्दन ने कहा—"भैया, तुम मेरे साथ

अयोध्याजी से आये हो। तुम्हारे बिना मैं अयोध्या अकेला जाऊँगा, तो लोग क्या कहेंगे ?

लक्ष्मण जी ने कहा—"लोग कुछ भी कहें, किसी से क्या लेना। अच्छी बात है, जब आपकी वनकी अवधि पूरी हो जाय, १४ वर्ष पश्चात् आप लौटें तो इधर से ही निकल जायँ, यदि मैं जीता रहूँगा तो एक बार अपने पिता के पुर को देखने तुम्हारे साथ चला चलूँगा। अब तो मैं जाने का नहीं भगवान् आपका भला करें, यह सामने का मार्ग आपका है, मैं तो इसीवन में अब निवास करूँगा।"

श्रीरामजी ने कहा—"नहीं, भैया ! चलो तो सही।"

लक्ष्मणजी ने कहा—देखिये ! प्रभो ! आप एक बार कहें सहस्रवार कहें। अब मेरा मन खट्टा हो गया है। आप लौट कर आवेंगे तो एकवार आपके साथ आपको राज सिंहासन पर बैठे देखने के लिये चला चलूँगा। भरत शत्रुघ्न आपके अनुकूल हैं ही। हे रघुनन्दन ! मैं तो आपके प्रतिकूल ही हूँ, मुझसे आपका कोई काम होने का नहीं मैं तो वन के कष्ट सहते सहते ऊब गया हूँ। जब होता है, तब आप मुझे ही आज्ञा देते हैं।"

अत्यन्त स्नेह के साथ रघुनन्दन ने कहा—"देखो, भैया तुमने यह बात मुझसे अयोध्या में ही क्यों नहीं कह दी थी। वहाँ तो तुम कहते थे, मैं १४ वर्ष आपके साथ वनमें रहूँगा। तुम्हारे बिना भैया मैं कैसे रह सकता हूँ। वन की बात तो पृथक् रही, कोई तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग भी ले जाय तो मैं वहाँ एक क्षण भी नहीं रह सकता। यदि तुम नहीं जाना चाहते तो मैं भी यहीं रहूँगा।"

लक्ष्मण जी ने कहा—"मेरे साथ रहकर क्या करोगे ! मैं तुम्हारी अब पहिले जैसी सेवा तो कर नहीं सकता।"

श्रीरामने कहा—"भैया ! तुमसे सेवा करने को कहता कौन है। तुम मेरी सेवा मत करना, मैं तुम्हारी करूँगा। जैसे तुम रहोगे वैसे ही मैं रहूँगा। भैया, तुम मुझ पर क्रुद्ध क्यों हो गये हो। मेरे ऊपर प्रसन्न हो, मुझे तुम आधे मार्ग में क्यों छोड़ रहे हो ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"हे कौशल्यानन्दनवर्धन श्रीराम ! आप मुझे यहीं छोड़ दें। आप सीता सहित सुख पूर्वक जायँ।"

इसपर श्री कौशलकिशोर ने कहा—"अच्छा, एक काम करो। मैं सीता को साथ लेकर एकाकी ही चला जाऊँगा। तुम मेरा धनुष लेकर तनिक दूर मर्यादा पर्वत तक तो मुझे पहुँचा दो।"

यह बात लक्ष्मण जी ने स्वीकार करली और भगवान् के पीछे पीछे धनुष लेकर चल दिये। जब उस क्षेत्र की सीमा को उल्लंघन करके मर्यादा पर्वत के समीप पहुँचे, तो वहाँ भगवान शिवजी का एक मन्दिर देखा। वहाँ भगवान् ने शिव जी की पूजा की, स्तुति की, तदनन्तर इन्द्रमार्ग नामक नदी के तटपर पहुँचकर उन्होंने अपनी बिखरी हुई जटाओं को कसकर बाँधा और लक्ष्मण जी से बोले—"लक्ष्मण ! ला भैया ! अब मेरा धनुष मुझे दे दे। अब तेरी जो इच्छा हो सो कर। इच्छा हो, हमारे साथ रह इच्छा हो चला जा।"

आज श्री राम के मुख से ऐसे वचन सुनकर लक्ष्मण का

हृदय भर आया। वे नीचा सिर कर के बालकों की भाँति फूट-फूट कर रोने लगे। श्रीराम जी के सम्मुख देखने का भी उनको साहस नहीं हो रहा था वे थरथर कांप रहे थे। श्रीराम जी से वे एक शब्द भी न बोल सके। समीप में ही बैठी श्री जनकनन्दिनी के समीप जाकर उनके चरणों में प्रणाम करके रोने लगे। बड़े ही स्नेह से जानकीजी ने कहा—"वत्स लक्ष्मण! तुम ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो?"

रोते रोते लक्ष्मण जी ने कहा—"देवि! देवि! न जाने किस कारण से श्रीराम ने मेरा परित्याग कर दिया है। हे माता! श्रीराम से रहित होकर मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता। मैं अभी यहीं अपने प्राणों को त्याग दूँगा।"

सीता जी ने कहा—"लक्ष्मण! तुम को भला श्रीराम कैसे छोड़ सकते हैं। तुम तो उनके बाह्य प्राण हो?"

लक्ष्मणजी ने कहा—देवि! मैं बड़ा पापी हूँ, क्रूर हूँ, कुल-कलंक हूँ। जो मेरे आराध्य देव है, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं इष्ट है उनके प्रति मैंने क्रोध भरे वचन कहे उनका मैंने अपमान किया। अब मुझे किन नरकों में रहना पड़ेगा? अपने जीवन सर्वस्व के प्रति ऐसे वचन कहकर अब मेरा कहीं भी निस्तार नहीं।"

इतना कहकर लक्ष्मणजी अपने दोनों हाथों से मुख को ढाँक कर फूट-फूट कर रोने लगे। लक्ष्मण जी को रोते देखकर सीता जी ने उन्हें धैर्य बँधाया। फिर श्रीराम से कहने लगीं—"हे राघव! आपने अपने प्राणों से भी प्रिय भाई का परित्याग क्यों कर दिया? लक्ष्मण ने तो ऐसा कोई अपराध भी नहीं किया और यदि किया भी हो, तो बच्चों के अप-

राधों की ओर बड़े लोग ध्यान नहीं देते। बच्चे तो बच्चे ही हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीराम बोले—"देवि! प्रिये! क्या तुम विश्वास कर सकती हो कि मैं कभी लक्ष्मण को छोड़ सकता हूँ? और तुम कभी अनुमान भी कर सकती हो कि लक्ष्मण कभी मेरे तथा तुम्हारे विरुद्ध एक शब्द भी भूल से कभी कह सकता है? देवि! अभी जो लक्ष्मण ने ऐसी कठोर कठोर बातें कही हैं, यह इसका दोप नहीं। यह तो इस स्थान का प्रभाव है। इस स्थान को शाप है, कि यहाँ पुत्र पिता के, शिष्य गुरु के, भाई भाई के, अनुकूल नहीं रह सकता। इस स्थान की ऐसी महिमा है, कि सहज स्नेह यहाँ रहता ही नहीं। हम लोग उस स्थान की सीमा को लाँघ आये, अब कोई बात नहीं।" यह कहकर श्रीराम जी रेवा नदी के निकट आ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी प्रकार महाराज सुद्युम्न देश के प्रभाव से पुरुष से स्त्री हो गये। उस देश को यही शाप था, कि जो वहाँ जाय वही स्त्री बन जाय। इसीलिये राजा के सब साथी सब वाहन पुरुष से स्त्री बन गये।"

राजा परीक्षित ने जब सुद्युम्न के स्त्री होने की कथा सुनी तो उन्होंने भगवान् श्रीशुक से पूछा—"भगवन् उस देश को ऐसे गुणवाला किसने कर दिया था कि वहाँ जाने

वाले सभी स्त्री हो जायँ ? किस कारण से उस वनको ऐसा शाप या वरदान प्राप्त हुआ ?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! न किसी का शाप था, न वरदान। यह सब तो शिवजी की क्रीड़ा है। नहीं तो कौन स्त्री, कौन पुरुष, सभी जीव उनके अंश हैं। एकमात्र सबके स्वामी वे ही सच्चिदानन्द शिव हैं। अच्छी बात है, मैं यह कथा आपको सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

पूछैं नृप—गुरु ! नृपति भये कस नारी नरतैं।
अद्भुत देश प्रभाव भयो जिह किनके वर तैं॥
हँसि के श्रीशुक कहैं—"भूप अचरज मति मानैं।
जगकूँ—क्रीड़ा भूमि भवानी पति की जानैं॥
मेरु निकट अति सुघर वन, जहँ झर झर झरना झरहिँ।
उमा संग तहँ कपर्दी, कमनीया क्रीड़ा करहिँ॥

सुद्युम्न इला और बुध

(५६२)

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया ।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद् भवेदिति ॥१

(श्री० भा० ६ स्क० १ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

शिव दरशन के हेतु तहाँ इकदिन बहु ऋषिमुनि ।
आये सोचत होहिँ कृतारथ शिव शिक्षा सुनि ॥
किन्तु प्रिया सँग करें रमण कामारि उमापति ।
अङ्क विराजैं उमा विवस्त्रा चित प्रसन्न अति ॥
दाढ़ी वाले ऋषिनि लखि, पारवती लज्जित भईं ।
उठीं अङ्क तैं तुरत ई, लता ओट महँ छिपि गईं ॥

स्त्रियों का भूषण लज्जा ही है । स्त्रियों को लज्जा सिखानी नहीं पड़ती, उनमें स्वाभाविक लज्जा होती है । स्त्री की अपेक्षा

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् शिव ने अपनी प्रिया पार्वती का प्रिय करने की इच्छा से अपने क्रीडा वन के सम्बन्ध में यह कह दिया कि जो पुरुष अब इस स्थान में प्रवेश करेगा वह स्त्री हो जायगा ।